10003

जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 7 • जुलाई, 2003

2001

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सटैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 ● जुलाई, 2003 ● अंक 7

विमर्श

9
एम. हिरियन्ना
कला और नैतिकता

14
डॉ. रामजीसिंह
भारत का मिशन : समन्वय की साधना

17
समणी सत्यप्रज्ञा
जैन आचार और विनय

●

आवरण
खेराज

अनुभूति

23
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
तेरापंथ का अर्थ : आत्मोत्सर्ग, अनुशासन और समर्पण

28
समणी अमितप्रज्ञा
साहित्य में प्रतीकों का स्थान और उत्तराध्ययन

34
मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं : सूत्र है आत्मविकास का

37
कहानी
राजी सेठ
गलत होता पंचतंत्र

42
कविता
नरेश मेहता की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
लोक-परलोक

शीलन

45
साध्वी कांतयशा
जीवन निर्माण का सोपान : दसवैकालिक सूत्र

47
साध्वी विश्रुतविभा
पूत के पांव पालने में

50
काका कालेलकर
आहार, निद्रा, भय : जीवन के तीन तत्त्व

53
मुनि दुलहराज
आवश्यक है ज्ञानार्जन

54
बालकथा
रघुवीर चौधरी
सबसे बड़ी विजय

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

हमारी चेतना जब शरीर के साथ जुड़ जाती है, तब वह इंद्रियों द्वारा बाह्य संसार के नियंत्रण के कार्य को पूरा करने के लिए बहिर्मुखी हो जाती है; अपनी बहिर्मुखी क्रियाओं में यह इंद्रियग्राह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धारणाओं का उपयोग करती है; अंतर्मुखी होने पर यह साधारणतया आत्म का अनुमानसिद्ध ज्ञान उन कार्यों द्वारा प्राप्त करती है, जो इस अर्थ में तुरंत जान लिए जाते हैं कि जानी गई वस्तुएं स्वयं ज्ञान के सिवाय किसी अन्य माध्यम द्वारा नहीं जानी जातीं। इस सबसे हमें यह पता नहीं चलता कि आत्म अपने मूल स्वरूप में क्या है। हम यह तो जान जाते हैं कि आत्म किस तत्त्व का बना है, परंतु स्वयं आत्म को नहीं जान पाते। आत्म का अस्तित्वात्मक अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें वस्तुओं की उस बाह्य और आंतरिक विविधता से मुक्त होना होगा, जो आत्म के सार के प्रत्यक्ष या अंतःस्फुरणात्मक दर्शन में बाधक है और उसे रोकती है। साधारणतया बाह्य और आंतरिक प्रातिभासिक जगत ही रंगमंच को घेरे रहता है और आत्म अपने सार के रूप में पहचाना नहीं जाता। हम अपने-आप को मनोवैज्ञानिक रूप से जितना अस्पष्ट करते जाते हैं अर्थात् अंतर्निरीक्षण या मनन द्वारा अपने-आप को अस्पष्ट करते जाते हैं, उतना ही अधिक हम आत्म की प्रातिभासिक अभिव्यक्तियों के संपर्क में आते-जाते हैं। यदि हमें अपने अंदर विद्यमान सर्वोच्च आत्म को देखना हो, तो हमें एक भिन्न प्रकार की साधना अपनानी चाहिए। हमें दृश्यमान वस्तुओं को एक ओर हटा देना चाहिए; हमें अपनी प्रकृति के रुझान के विरुद्ध चलना चाहिए; अपने-आप को नग्नरूप में देखना चाहिए; प्रतीयमान अहंकार से बचना चाहिए और विशुद्ध कर्तात्मकता, परम आत्म के गंभीर गर्त तक पहुंचना चाहिए।

—डॉ. राधाकृष्णन्

जहां सिद्धांतवादिता कम होती है वहां विचार-भेद भी कम होता है। सिद्धांतों की गहराई में विचारों के भेद पनपते रहते हैं। जैन-दर्शन सिद्धांतवादी अधिक है। उसमें तत्त्वों की छानबीन बड़ी सूक्ष्मता से की गई है। अहिंसा और संयम की ऐसी सूक्ष्म रेखाएं हैं कि जिनसे थोड़े में ही विचार-भेद की सृष्टि हो जाती है। इसके साथ अनेकांत-दृष्टि जुड़ी हुई है। वह नहीं होती तो विवाद सीमा पार कर जाता। अनेकांत का ठीक-ठीक उपयोग किया जाए तो विवाद खड़े भी न हों और क्वचित् हो भी जाएं तो वे सहसा मिट जाएं। पर उसका उपयोग बहुत कम किया जाता है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

परिवार, समाज और राष्ट्र के दायित्वों का बोध और उनके निर्वाह की प्रेरणा आवश्यक है। इसी प्रकार धर्मसंघ के प्रति भी व्यक्ति का कुछ दायित्व होता है। समाज और राष्ट्र से उसे जीवन-यापन के लिए सुविधाएं उपलब्ध हो सकती हैं। पर जीने की कला सिखाने वाला धर्म है। हर व्यक्ति की अपनी धार्मिक आस्था होती है। धार्मिक व्यक्ति किसी-न-किसी धर्म-संगठन से जुड़े हुए होते हैं। उनके विकास का दायित्व उन सब लोगों पर है, जो उसके प्रति आस्था रखते हैं।

प्रथम तीन प्रकार के दायित्व लौकिक हैं। चौथे प्रकार का दायित्व लोकोत्तर है। लौकिक दायित्व के साथ आत्महित का अनुबंध नहीं है। धार्मिक दायित्व आत्महित से जुड़ा हुआ है। जब तक इस दायित्व का बोध नहीं होता, व्यक्ति का दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं बन पाता। आध्यात्मिक दृष्टि वाले व्यक्ति परिवार, समाज और राष्ट्र की उपेक्षा करें, यह आवश्यक नहीं है। अध्यात्म कभी नहीं कहता कि व्यक्ति अव्यावहारिक हो जाए। उनकी प्रेरणा का मुख्य बिंदु एक ही है कि व्यक्ति धर्म को कभी विस्मृत न करे। जीवन के सर्वांगीण विकास की दृष्टि धार्मिक दायित्व का बोध होने पर ही खुलती है।

—आचार्यश्री तुलसी

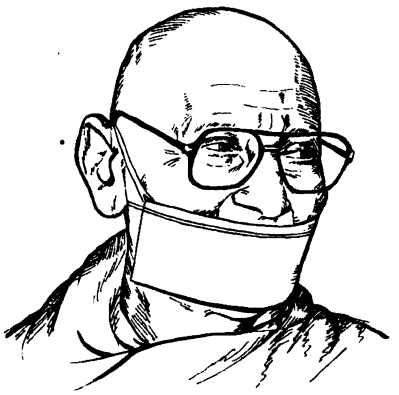

हम देखते हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, पर वास्तव में हमें कहना चाहिए कि प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया होती है। स्थिति से दबे हुए जगत में शुद्ध क्रिया होती कहां है? मैं अपनी श्लाघा सुनकर फूलता हूं और अपनी निंदा सुनकर म्लान होता हूं, ये दोनों—फूलना और म्लान होना स्वतंत्र कर्म नहीं हैं, किंतु प्रतिकर्म हैं। मैं ऐसा करके अपनी स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं करता, किंतु परिस्थिति का खिलौना बनता हूं। इस दशा में मैं अहिंसक का नाम रखकर भी अहिंसक नहीं हो सकता हूं।

हम लोग स्थिति के स्वीकार की दुनिया में खड़े होकर सशस्त्र प्रतिकार की बात सुनते हैं, तब हमें वह असंभव लगती है। अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की आस्था के जगत में खड़े होकर हम देखें तो दिखेगी कि सुरक्षा वस्तु में नहीं—अपने में है, शक्ति वस्तु में नहीं—अपने में है। वस्तु में हम अपनी ही शक्ति को आरोपित करते हैं और हम स्वयं को उसके सामने शक्तिहीन अनुभव करते हैं।

अहिंसक प्रतिकार हमारी आस्था का प्रश्न है। हिंसा में निष्ठा है, वे शस्त्र-बल को जगा रहे हैं। अहिंसानिष्ठ व्यक्ति अभय को जगाएं। वह परमाणु बम से भी अधिक शक्तिशाली अस्त्र है। उसकी शक्ति की हम कोई कल्पना नहीं कर सकते। हमारे मन में भय होता है तभी हमारे पर कोई आक्रमण कर सकता है, शासन थोप सकता है और कुछ भी कर सकता है। हम अभय हो जाते हैं, हमें मृत्यु की असीम शक्ति प्राप्त हो जाती है। तब दुनिया की कोई भी शक्ति हमें आक्रांत नहीं कर सकती। परशासित वही जाति होती है, जिसके पास अपना आस्था-बल नहीं होता।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
जुलाई, 2003

प्रसंग

लोक-परलोक

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह बात भी निरंतर चली आ रही है कि मनुष्य समाज 'लोक-परलोक' में आबद्ध है। भारतीय समाज तो आज भी 'लोक-परलोक' के मनोभाव से मुक्त नहीं है। उदग्र बौद्धिक विकास तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लगातार बढ़ते प्रभावों के बावजूद समाज का बड़ा वर्ग 'लोक-परलोक' की अवधारणा को न केवल स्वीकार करता रहा है, उसके प्रभाव को गहरे तक महसूस भी करता रहा है। लोक और परलोक की यह अवधारणा धर्म और काफी हद तक 'धर्मांधता' पर अवलंबित है। दिलचस्प पहलू यह है कि पढ़ा-लिखा और उच्च-बौद्धिक समाज भी 'लोक-परलोक' की बद्धमूल अवधारणा में विश्वास करता है। इसमें भी जो बड़ा दिलचस्प पहलू है, वह है 'परलोक' का। इसे किसने देखा है, यह तो कोई नहीं बता पाया, पर समाज-व्यवस्था के निर्बाध संचालन में 'परलोक-भीरुता' की महती भूमिका देखी जा सकती है।

लोक और परलोक के प्रति ऐसे गहरे विश्वास का एक बड़ा कारण पुनर्जन्म की अवधारणा भी है। जितने प्रचलित धर्म और आस्थाएं हैं—सभी का पुनर्जन्म में विश्वास है। कोई व्यक्ति धर्म के प्रति कितना आस्थाशील है और किसी का दैनंदिन आचरण कितना धर्ममय है—यह विवादास्पद हो सकता है, पर पुनर्जन्म को लेकर लोगों में समान आस्था देखी जा सकती है। ऐसे लोग बहुतायत में देखने को मिलेंगे जो धर्म में गहरी आस्था रखते हैं, परलोक और पुनर्जन्म में भी उनका विश्वास है, परलोक-भीरु भी हैं और साथ ही उनका दैनंदिन आचरण 'धर्म-विरुद्ध' है—जैसे कि खाद्यान्नों में मिलावट करना, चोरी और हिंसामय प्रवृत्तियों से धनोपार्जन अथवा भौतिक सुख-सुविधाएं हासिल करने में किसी तरह का संकोच न करना आदि। तात्पर्य यह कि धर्म-विरुद्ध या पापमय आचरण में लिप्त रहते हुए वे अपना दैनंदिन जीवन बसर करते हैं, पर कहलाते 'धार्मिक' हैं। इसे धर्म की विडंबना ही कहा जा सकता है। इसी विडंबना के कारण धर्म के सम्मुख सदा सवालिया निशान लगते रहे हैं।

हम इस पक्ष पर दूसरे सिरे से विचार करें। हम देखते हैं कि धर्म-भीरुता या परलोक-भीरुता सर्वाधिक रूप में उन्हीं में देखने को मिलती है जो सर्वाधिक धर्म-विरुद्ध या पापमय आचरण करते हैं और यह भी कि धर्म के सवाल पर आज हरावल दस्ते में भी इसी किस्म के लोग नजर आ रहे हैं। तो क्या यह मानना चाहिए कि ऐसे लोगों की धर्म-भीरुता अथवा परलोक-भीरुता एक प्रकार का छद्म

है? और उनका यही छद्म वास्तविक आस्थाशील धार्मिकों या कि स्वयं 'वास्तविक धर्म' के लिए सर्वाधिक घातक साबित होने वाला है? कहा जा सकता है कि ऐसा होने लगा है और वास्तविक रूप में आस्थाशील धार्मिकों के सम्मुख यह पेचीदा सवाल चिंताजनक रूप में खड़ा है। इसका हल जटिल है और नाजुक भी।

दरअसल धर्म या धर्मगुरुओं ने अपने अनुयाइयों के समक्ष धर्म का जो स्वरूप अब तक प्रस्तुत किया, वह 'परलोक' सुधारने पर ही बल देता रहा। कहा जाता रहा कि यह 'लोक' तो दुखों और विषमताओं का सागर है और इससे मुक्ति के जो भी उपाय बताए जाते रहे उनमें सर्वाधिक जोर 'परलोक' पर ही रहा।

ऐसे नाजुक और जटिल हालात में भी कुछेक क्रांतदर्शियों की झलक इस समाज को आश्वस्त करती नजर आ रही है। ऐसे क्रांतदर्शियों से यह आशा की जा सकती है कि वे धर्म, पुनर्जन्म, लोक-परलोक जैसी अवधारणाओं को बेझिझक पुनर्व्याख्यायित करेंगे और धर्म के कथित रूढ़ अर्थों से इसे मुक्त कर सकेंगे। वर्तमान सामाजिक समस्याओं व विषमताओं से दो-चार हो इसके उज्ज्वल पक्षों को प्रस्तुत करने में जोखिम उठाकर भी क्रांतदर्शी धर्मगुरु व धार्मिक-जन अग्रणी भूमिका निभाएंगे।

सौभाग्य से हमारे समाज में ऐसे धर्म भी मौजूद हैं जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र पर बल देते रहे हैं, अलबत्ता प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष 'परलोक' के श्रेयस की साधना पर उन्होंने भी बल दिया है। ऐसे क्रांतदर्शी भी हुए हैं जिन्होंने सत्य और अहिंसा जैसे बुनियादी मानव-सिद्धांतों को निषेधात्मक रूप में मानने पर जोर नहीं देकर, कहीं बड़े अर्थों में इनको अंगीकार करने की बात कही है। अहिंसा या सत्य से केवल इतना ही तात्पर्य नहीं निकाला गया कि दूसरों को हानि न पहुंचाई जाए, बल्कि दूसरों को हानि पहुंचाने से बचते हुए उनके उपकार में सचेष्ट रहने की बात भी कही गई। प्रकारांतर से सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चरित्र के निर्माण की ये बातें 'परलोक' के लिए ही न होकर वर्तमान के श्रेयस के लिए भी हैं। क्रांतदर्शियों ने इसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे क्रांतदर्शी इस प्रसंग पर अपना मत इस प्रकार रखते हैं, वे कहते हैं—'दो परंपराएं थीं। एक स्वर्गवादी परंपरा और दूसरी निर्वाणवादी परंपरा।' निर्वाणवादी परंपरा को स्पष्ट करते हुए वे बताते हैं—'निर्वाणवादी परंपरा का उद्देश्य था बंधन को तोड़ना, बंधन का उच्छेद करना और सब प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर अपने आत्म-स्वरूप को उपलब्ध हो जाना, चैतन्य को उपलब्ध हो जाना, परमात्म-पद को प्राप्त हो जाना। उसमें न नरक का भय था, न स्वर्ग का प्रलोभन। जहां भय और प्रलोभन धर्म के साथ जुड़ते हैं, धर्म लौकिक बन जाता है। उसकी लोकोत्तर सत्ता समाप्त हो जाती है।' लोक और परलोक के संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का उपरोक्त कथन धर्म के सकारात्मक स्वरूप को स्थापित करता है। उनके अनुसार अपना आत्म-स्वरूप, अपना चैतन्य व परमात्म-पद प्राप्त होने में 'परलोक' का भय निहित नहीं है। जाहिर है, ऐसे धर्म-स्वरूप में स्वर्ग या नरक का भय भी नहीं हो सकता।

धर्म की प्रासंगिकता पर अपना दृष्टिकोण रखते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी धर्म को दुख-मुक्ति का माध्यम भी मानते हैं और उनकी ऐसी विधि धर्मांध न होकर सर्वथा मनोवैज्ञानिक और तर्क-सम्मत होती है। सामाजिक विषमताओं से मुक्त होना ही दुख-मुक्ति है और ऐसा इसी लोक के लिए है—जिसमें हम जीते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान का अन्वेषण इसी दृष्टि से किया है।

हम देखेंगे कि प्रेक्षाध्यान का संकल्प-सूत्र किसी धार्मिक-संकीर्णता में जड़बद्ध नहीं है। प्रेक्षाध्यान का संकल्प सूत्र है—'मैं चित्त-शुद्धि के लिए प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कर रहा हूं।' इसी तरह इस प्रयोग-विधि का उद्देश्य भी वे सामाजिक समरसता में देखते हैं न कि किसी परलोक के श्रेयस में। प्रेक्षाध्यान प्रयोग-विधि के समापन सूत्र में भी लोक का श्रेयस ही विद्यमान है। वे कहते हैं—'स्वयं सत्य खोजें, सबके साथ मैत्री करें'। दूसरा सूत्र है—'दुख-मुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करें' और इसी तरह कृतज्ञता के रूप में भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी किसी धर्म या धर्मगुरु को नहीं, 'सत्य को नमस्कार' करने की प्रेरणा देते हैं। धर्म का यही सम्यक् रूप हमारे वर्तमान को श्रेयस बनाने में सहायक हो सकता है।

लोक-परलोक अथवा स्वर्ग-नरक के भय से मुक्त होते हुए धर्म के वास्तविक स्वरूप की मूल्यवत्ता व्यापक स्तर पर तभी स्वीकार होगी जब धर्म की ऐसी क्रांतदर्शी व्याख्याओं पर उदार और उदग्र बौद्धिक वर्ग निष्कपट विचार करेगा।

—शुभू पटवा

विमर्श

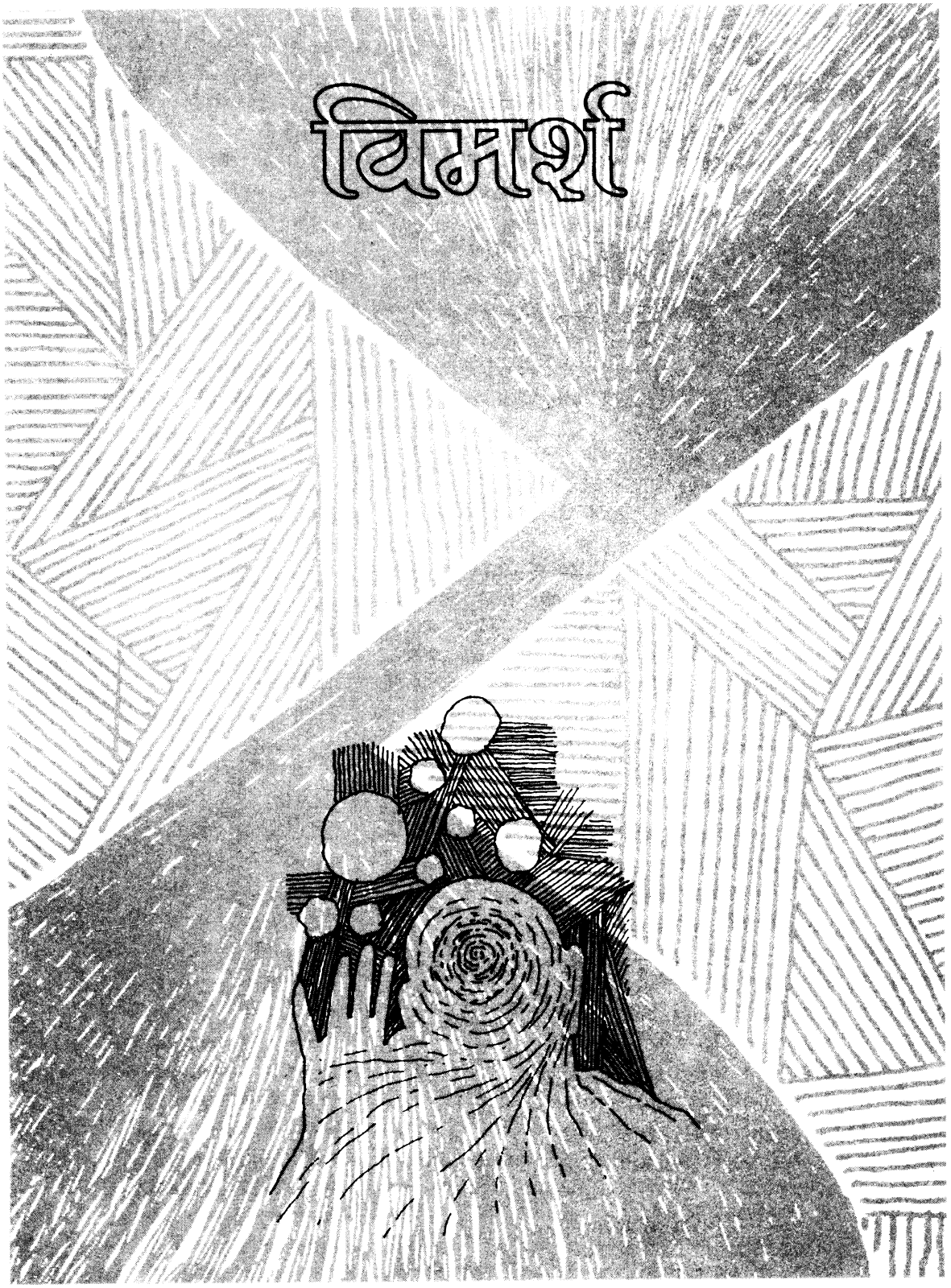

अनुशासन को शासन से पृथक करने के लिए अक्सर कहा जाता है कि अनुशासन भीतर से जन्म लेता है, शासन की तरह बाहर से थोपा नहीं जाता। 'भीतर' और 'बाहर' की यह भिन्नता बहुत सहायक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शासन की प्रभाव-क्षमता काफी समय तक क्रियाशील रहने पर 'भीतर' पहुंच सकती है। लंबे अरसे तक गुलाम रह चुके समाज जिस नियंत्रण से ग्रस्त या परिचालित होते हैं, वह उनके सामूहिक व्यक्तित्व में इतनी गहराई तक प्रवेश कर चुका होता है कि किसी व्यक्ति में उसे 'बाहरी' और 'भीतरी' के दायरों में बांटकर देखना संभव नहीं रह जाता है। कोई व्यक्ति अनुशासित है या गुलाम, इसका पता यह जानकर किया जा सकता है कि वह व्यक्ति दूसरों की आजादी को किस रूप में और कितनी सीमा तक स्वीकार करता है। जो स्वयं गुलामी कबूल कर चुके हैं, उन्हें दूसरों की आजादी गवारा नहीं हो सकती। आदेशों और ढेर-सारे नियमों से बंधे रहकर काम करने की आदत धीरे-धीरे उन प्राकृतिक क्षमताओं को पूर्णतः नष्ट कर देती है, जिनसे हम सामूहिक जीवन में आपसी संबंधों को संतुलन की अवस्था में रखते हैं। आदेशों के अनुसार काम करने वाले व्यक्ति को यह असंभव लगता है कि कोई आदेशों के बिना भी मुस्तैदी और शांति के साथ काम करते हुए जी सकता है। किसी समाज में आजादी का स्तर पता लगाने के लिए बच्चों के प्रति वयस्क सदस्यों के दृष्टिकोण को एक कसौटी की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। जो समाज बच्चों को नियंत्रण में रखना ही उनके लिए सर्वोत्तम मानता है, उनकी निजी इच्छाओं, आदतों और काम करने के तरीकों को संदेह की निगाह से देखता है, उस समाज की आजादी स्वयं बहुत संदिग्ध होती है।

—कृष्णकुमार

कला और नैतिकता

एम. हिरियन्ना

कला और नैतिकता—दोनों ही, वस्तुओं की वर्तमान अवस्था के प्रति अपूर्णता के बोध से पैदा होती हैं। नैतिकता उन वस्तुओं की अवस्था में परिवर्तन करके उन अपूर्णताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है, जबकि कला एक आदर्शीकृत संसार को प्रस्तुत करके उन वस्तुओं से पलायन के द्वारा यह काम करती है। अगर सामाजिक और प्राकृतिक तौर पर मनुष्य एक संपूर्ण और समग्र अस्तित्व के साथ संपूर्ण और समग्र परिवेश के बीच उपस्थित होता तब तो न तो कला और न ही नैतिकता की कोई आवश्यकता पड़ती।

लेकिन यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या सभी सचेत गतिविधियों का उद्देश्य किसी प्रदत्त परिस्थिति में संशोधन अथवा उससे पलायन नहीं है? निस्संदेह ऐसा है। लेकिन कला और नैतिकता के संदर्भ में इसमें एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। वे दोनों परम निरपेक्षता या तटस्थता की प्रवृत्ति को सूचित करती हैं। इन दोनों में यह बात अंतर्निहित है कि एक ही साध्य दो तरीकों से उपलब्ध किया जा सकता है। या तो स्वार्थपरक प्रवृत्तियों को खुली छूट दे दी जाए या उनके समाहार के द्वारा, और इस दूसरी चीज को वरीयता देने के कारण ही कला और नैतिकता सामान्य गतिविधियों से भिन्न ठहरती हैं। अगर हम किसी साध्य के लिए काम कर रहे हैं तो हमारा कर्म नैतिक तब होता है जब वह साध्य पूरी तरह से स्वार्थपरक उपलब्धि को त्याग करके अर्जित किया जा रहा हो। ठीक इसी तरह अगर हम किसी स्थिति का अनुचिंतन कर रहे हैं तो यह अनुचिंतन सौंदर्यात्मक तब बनता है जब हम उसके द्वारा इतने वशीभूत हो जाते हैं कि स्वयं अपने-आप को भूल जाएं। कला और नैतिकता इसके अतिरिक्त अन्य चीजों का संकेत करती हैं, लेकिन इस पर हम बाद में विचार करेंगे। फिलहाल तो यही संतोषजनक होगा कि वे किसी प्रदत्त स्थिति के प्रति सिर्फ अपूर्णता-बोध से ही संपृक्त नहीं होतीं, बल्कि उन अपूर्णताओं का अतिक्रमण करने के लिए किए जाने वाले अन्य प्रयत्नों से भी पूरी तरह संतुष्ट नहीं रहतीं। यहां पर मनुष्य अपने व्यक्तित्व को केवल आत्मचेतस के रूप में ही नहीं व्यक्त करता, बल्कि अपनी दूसरी अद्वितीय विशिष्टताओं—जैसे आध्यात्मिकता की क्षमता को भी प्रदर्शित करता है। उसकी आध्यात्मिकता की क्षमता यहां पर स्वार्थपरक उद्देश्यों से ऊपर उठने की होती है। अर्थात् कला और नैतिकता—जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है—जीवन की आलोचना करती हैं, लेकिन यह आलोचना ऐसी नहीं होती कि जो जीवन की संपूर्ण सक्रियताओं का परित्याग कर देने की दिशा में हमें ले जाए। उनका लक्ष्य तो उन समस्त सक्रियताओं में अंतर्निहित इच्छाओं और वृत्तियों का शुद्धीकरण करना होता है और ऐसा वे स्वार्थपरकता के सारे धब्बों को धो करके करती हैं।

अब हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि कला और नैतिकता संपूर्ण निस्वार्थता को अर्जित करने के अपने

●

भारतीय दर्शन, कला और सौंदर्यशास्त्र के अग्रणी विद्वान प्रो. एम. हिरियन्ना संस्कृत के भी प्रखर विद्वान रहे हैं। डॉ. एस. राधाकृष्णन् के साथ एक शिक्षक के रूप में कार्यरत रहते हुए हिरियन्ना कन्नड़ वांग्मय में नव जागरण के भी अग्रणी रहे। भारतीय दर्शन, जीवन और सौंदर्यशास्त्र के बीच अर्थवान संबंधों को देखने-समझने में भी हिरियन्ना अग्रणी रहे हैं। प्रस्तुत लेख में वे कहते हैं—

ज्ञान-प्राप्ति के बाद या जागृति के बाद व्यक्ति संपूर्ण सृष्टि को भी इसी रूप में देखने लगता है और फलस्वरूप वह प्रकृति से अथवा दूसरे कुछ अन्य प्रभावकारी पक्षों से भी सीधे-सीधे वही अनुभव प्राप्त कर सकता है। इस तरह कला की काल्पनिक अंतर्वस्तु वास्तविक संसार का स्थानापन्न हो जाती है और कला को प्रकृति के रहस्यपूर्ण चिंतन में रूपांतरित कर देती है। कला की जो भी अर्थवत्ता है, ज्ञानी उसे जीवन और संसार की समग्रता में ही देखता है। कला स्थाई प्रवृत्ति की एक अकर्मक अभिव्यक्ति बनती है, उसी तरह, जैसे नैतिकता एक सकर्मक या सक्रिय अभिव्यक्ति है।

●

उद्देश्य में कितनी दूर तक सफल हो सकती हैं। सबसे पहले नैतिकता को लें। यह बहुत स्पष्ट है कि किसी मनुष्य को निस्वार्थ नहीं कहा जा सकता, भले ही वह कभी-कभार निस्वार्थ ढंग से व्यवहार करता हो। किसी व्यक्ति को हम दयालु नहीं कह सकते, भले ही वह कभी-कभार किसी गरीब को कुछ सिक्के दान में दे देता हो। जब तक दया उसके पूरे चरित्र और जरूरतमंद के प्रति उसके व्यवहार की एक प्रमुख और सतत विशिष्टता नहीं बनती, तब तक उसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी तरह वही मनुष्य निस्वार्थ माना जा सकता है जिसके द्वारा किए गए समस्त कार्य तटस्थता और निस्संगता की भावना से संपन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त निस्वार्थता उसके स्वभाव का एक ऐसा स्थाई हिस्सा बन जाना चाहिए कि वह बिना किसी प्रयास के, नैसर्गिक रूप से, निस्वार्थ ढंग से व्यवहार करे। निस्वार्थता को किसी जान-बूझकर किए गए प्रयत्न का परिणाम नहीं, बल्कि उसके मस्तिष्क की एक स्थाई अभिव्यक्ति बन जाना चाहिए।

आइए, अब देखें कि किसी नैतिक कार्य के प्रति क्या कोई उत्प्रेरक इस लक्ष्य को उपलब्ध कर पाने के लिए पर्याप्त है? सर्वप्रथम तो मनुष्य में एक आध्यात्मिक वृत्ति तो रहती ही है। परंतु उसके लिए कोई भी ऐसी सक्रियता पूरी तरह से असार्थक होती है। किसी भी अनैतिक प्राणी को नैतिक बनाना संभव है, इसके लिए चाहे जो भी साधन अपनाए जाएं। लेकिन अगर व्यावहारिक रूप से कहें तो वह आध्यात्मिक दृष्टि बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होती—जो महत्त्वपूर्ण होती है, वह है उसकी उदाहरण बनने की शक्ति। ये उदाहरण हमारे सामने वास्तविक रूप से मौजूद व्यक्तियों, जैसे माता-पिता या अध्यापक के हो सकते हैं या फिर ऐसे व्यक्तियों के हो सकते हैं जैसे राम और बुद्ध, जिनकी स्मृति हमारे इतिहास की धार्मिक परंपरा में हमारे लिए सुरक्षित है। सामान्य तौर पर ये उदाहरण काफी दूरगामी होते हैं और हमारा दिशानिर्देश करने में पर्याप्त होते हैं। परंतु जीवन में नई स्थितियां पैदा हो सकती हैं या फिर कर्तव्य के बीच अंतर्विरोध या संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। जहां पर ये उदाहरण हमें असफल कर डालते हैं, वहीं पर हमारे स्वतंत्र व्यवहार और विवेक की आवश्यकता होती है, जिसका निहितार्थ यह है कि निस्वार्थ व्यवहार हमारे सामने हमारे मस्तिष्क में मौजूद रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि भले ही कोई निस्वार्थ रूप से कितने ही समय तक व्यवहार करे, वह नई स्थितियों के अनुरूप नई तरह की प्रवृत्तियों की आवश्यकता से परे नहीं जा सकता। ऐसी प्रवृत्ति (सहज बोध) हमें पथभ्रष्ट भी कर सकती है, लेकिन अगर यह मान लें कि यह ऐसा नहीं करती तो उसके लिए सचेत प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ऐसे अवसर पर हमारी अपनी सहज नैतिक वृत्ति को हमारी मदद करनी चाहिए, लेकिन जैसा हम आध्यात्मिक वृत्ति के संदर्भ में पहले कह चुके हैं, हो सकता है कि वह हमारी सहायता न करे।

दूसरे शब्दों में अगर नैतिक कर्म का सर्वोच्च स्वरूप वह है जहां पर निस्वार्थता पूरी तरह से स्वाभाविक और नैसर्गिक रूप में प्रकट होती है तथा उसी उद्देश्य को पूरा करने में सहायक होती है, जिसके लिए वह कर्म किया जा रहा है तो ऐसी अवस्था सामान्य नैतिकता के द्वारा हासिल नहीं की जा सकती। यह कभी भी सायास किए जा रहे प्रयासों की अवस्था को लांघ नहीं सकती और वह एक आंतरिक वृत्ति बाह्य संप्रेषण-मात्र बन सकती है तथा जब तक इस रूप में रहती है तब तक यह बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि निस्संगता या तटस्थता की वृत्ति पूरी तरह से निर्मित हो चुकी है।

ऐसा आभास होगा कि हम ऐसी पूर्ण निस्वार्थता को कला में अर्जित कर लेते हैं। भले ही नैतिकता में इसे अर्जित नहीं कर पाएं, क्योंकि यह स्वीकार किया गया है कि सौंदर्यानुभव अपने स्वभाव से ही पूरी तरह से निर्वैयक्तिक होता है। वह साध्य, जिसे नैतिक कारक प्राप्त करना चाहते हैं, कला में उपलब्ध होते हुए इसीलिए दिखाई देते हैं। लेकिन यह निर्वैयक्तिक प्रवृत्ति क्षणिक होती है और कभी-न-कभी कुछ समय बाद अदृश्य हो जाती है। दैनंदिन जीवन में नैतिकता की इस प्रवृत्ति से पतन होता ही रहता है तथा संबद्ध व्यक्ति के चरित्र के अनुसार सामान्य जीवन अवस्था की जरूरतों के अनुसार स्वार्थपरकता के कई रूप प्रकट होते रहते हैं। सबसे-बड़ी बात तो यह है कि इस स्थिति में जो निर्वैयक्तिकता का अनुभव उपलब्ध होता है, वह एक ऐसी स्थिति के संदर्भ में होता है कि जो यथार्थ नहीं, बल्कि काल्पनिक या आदर्श स्थिति है। इसलिए इसे एक अर्थ में कृत्रिम भी कहा जा सकता है, यानी यह एक ऐसे वातावरण में या परिवेश में उपलब्ध होता है जो कि प्रकृति के बाहर है। कला और नैतिकता, जैसा कि अक्सर देखा जाता है, अपने उद्देश्य को हासिल कर पाने में सिर्फ असफल ही नहीं होतीं, बल्कि कभी-कभी इसके बिल्कुल विपरीत भी ले जाती हैं। इस प्रकार निस्वार्थ होने की उत्सुकता में नैतिकता तपश्चर्या के आदर्शों को भी अपना सकती है जो कि वस्तुतः और कुछ नहीं, बल्कि स्वार्थपरकता का ही एक रूप है।

तपस्वी का जो सामान्य स्वीकृत अर्थ है उसके अनुसार भले ही ऐसा लगता है कि तपस्वी अपने लिए किसी लाभ की बात सोचता होगा, लेकिन उसकी प्रवृत्तियां इसलिए स्वार्थी मानी जा सकती हैं, क्योंकि वह संसार को ज्यों-का-त्यों छोड़कर स्वयं अकेले अपने-आप में डूब जाता है। अगर ऐसा होता है तो यह एक नैतिक जीवन नहीं, बल्कि यह नैतिकता का नकार है। आत्म-दमन स्वयं अपने प्रति लगभग उसी तरह की प्रवृत्ति का सूचक है जिस तरह की प्रवृत्ति आत्म-आसक्ति के द्वारा उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए गीता में आत्म-बलिदान की भर्त्सना की गई है, जिसमें अपने शरीर को अत्यंत बुरे रूप में नष्ट कर डालने का लक्ष्य रहता है। हालांकि सभी नैतिकताओं के लिए तपस्या आवश्यक है और आत्म-अस्वीकार की चेतना नैतिकता का ही एक विशिष्ट गुण है; जैसा कि अधिकांश भारतीय संप्रदायों ने शिक्षा दी है। लेकिन यह सकारात्मक तपस्या है, नकारात्मक नहीं। ऐसा कहने से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि सभी तरह का नकारात्मक तपस्यावाद अनिवार्य रूप से दूसरों की पीड़ाओं के प्रति निरपेक्ष रहता है, क्योंकि जो लोग तपस्या करते हैं वे परोपकारी उनकी तपस्या के बाहर ही होते हैं जबकि सकारात्मक तपश्चर्या परमार्थ को उसका एक अनिवार्य अंग बना डालती है। यहां पर तपस्या का आदर्श स्वयं पारमार्थिक कर्म को निष्पन्न करने की ही प्रक्रिया में अर्जित हो जाता है। इसी तरह कला में भी किसी भोगी की तरह केवल आनंद लूटने और सुख पाने की लालसा में ही विघटित हो जाने की प्रवृत्ति भी अक्सर दिखाई पड़ती है। ऐसी कला में निर्वैयक्तिकता को नकार करके कला-अनुभव में सुख के तत्त्वों की ही महत्ता रहती है। ऐसी दशा में कला लगभग बिल्कुल असामाजिक होकर भोगवादी बनकर रह जाती है। अगर नैतिकता नकारात्मक हो जाती है तो कला आत्मकेंद्रित हो जाती है। संभवतः यही कारण है कि व्यवहारतः अधिकतर कला को धर्म पर निर्भर रहने के लिए विवश किया जाता है। लेकिन कला के स्वभाव में यह कतई आवश्यक नहीं है कि वह इस तरह के विघटन को रोकने के लिए धर्म का आश्रय ले ही। कला को एक सच्चे आध्यात्मिक अनुभव में इसकी विषयवस्तु के द्वारा रूपांतरित करना—इसको परोक्ष रूप से ऊपर उठाने की श्लाघा है, जबकि जिस चीज की आवश्यकता है, वह यह है कि ऐसा अनुभव कला से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त किया जाए। कला इस तरह का कार्य स्वयं भी कर सकती है और ऐसा वह प्रकृति और जीवन का सीधा आदर्शीकरण करते हुए और बिना किसी धार्मिक विश्वास का सहारा लिए हुए भी कर सकती है। जिस तरह पूरी तरह से शुद्ध रूप से तपस्या में बदल जाने के बाद नैतिकता स्वयं को खंडित करती है, उसी तरह कला आत्मकेंद्रित हो जाने के बाद स्वयं को खंडित करती है, क्योंकि नैतिक वृत्ति की तरह कलात्मक वृत्ति को भी विशुद्ध रूप से निःस्वार्थ होना चाहिए। तपस्वी और भोगी, दोनों ही अपने-अपने हितों के लिए संसार को ज्यों-का-त्यों छोड़ देते हैं।

सही मार्ग से भटक जाने का मुख्य कारण है सहज बोध के बावजूद निःस्वार्थता की सही प्रकृति के संदर्भ में स्पष्टता की कमी। निःस्वार्थता का अर्थ कदापि अहं का संपूर्ण दमन नहीं है, इसका अर्थ मात्र उच्चतर अहं द्वारा क्षुद्र अहं पर विजय है। इन दोनों के महत्त्व और इन दोनों की विशिष्टता में ठीक-ठीक भेद न कर पाने के कारण ही नैतिक लक्ष्यों का विचलन तपस्यावाद की तरफ होता है। हम यहां इन दोनों प्रकार के अहं की प्रकृति की व्याख्या नहीं करें। हम केवल यह संकेत जरूर करना चाहेंगे कि निःस्वार्थता उतनी ही सकारात्मक भी होती है, जितनी कि नकारात्मक और अगर तपस्यावाद गलत है तो उसकी एक वजह यह भी है कि वह इसके सकारात्मक पक्ष को पूरी तरह से अनदेखा कर देता है और इस प्रकार वह संपूर्ण रूप से नकारात्मक बन जाता है। यह अहं की वास्तविक प्रकृति की नासमझी से ही पैदा दृष्टिकोण है जो भोंडे तरीके से कला को सिर्फ मनोरंजन का साधन मानने की सीख देता है। अहं कभी भी स्वायत्त और निरपेक्ष नहीं होता, यह पूरी तौर पर, एक छोर से दूसरे छोर तक सामाजिक होता है। इस तथ्य को न देख पाने की कमी ही कला-बोध को असामाजिक और आत्मकेंद्रित मान बैठती है। अनैतिकता और कला के प्रयोजन के लिए एक स्वाभाविक रुझान स्पष्ट रूप से रहता है और यह किसी-न-किसी वास्तविक लक्ष्य की ओर संकेत करता है। लेकिन पूरी तरह से अंतर्निहित होने के कारण उस लक्ष्य को बहुत सूक्ष्म रूप में ही महसूस किया जा सकता है। ठीक-ठीक पूरी स्पष्टता के साथ उसे समझा नहीं जा सकता। जब तक यह पूरी तरह से स्पष्ट न हो जाए तब तक कला और नैतिकता—दोनों के लिए अपने वास्तविक लक्ष्य से भटक जाने का खतरा मौजूद रहता है।

क्षुद्र और श्रेष्ठ अहं के अंतर का ज्ञान ही स्वयं में कला और नैतिकता में संपूर्ण सफलता दे पाने के लिए पर्याप्त नहीं है। अगर हम नैतिकता से पहले लें तो यह वैयक्तिकता से संबद्ध मूल्यों या शुद्धताओं के संदर्भ में ऐसा कर सकती है। लेकिन नैतिकता का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। मुख्य रूप से नैतिकता का अर्थ किसी वस्तुपरक स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया है, इसलिए अपने सारभूत रूप में

यह समाजिक होती है। नैतिक कर्म सिर्फ हवा में ही संपन्न नहीं होते। चूंकि ऐसी वस्तुगत स्थितियां हमेशा एक-दूसरे के सापेक्ष होती हैं, इसलिए उनके प्रति उचित प्रतिक्रिया के लिए उस समूचे सामाजिक परिवेश के संपूर्ण ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें मनुष्य रह रहा है। अर्थात् नैतिकता में सफलता जितनी 'अहं' के ज्ञान पर निर्भर रहती है, उतनी ही संपूर्ण रूप से वस्तुगत परिवेश के ज्ञान पर भी आधारित होती है। पहली स्थिति (अहं के ज्ञान) में स्पष्ट समझ के अभाव में जहां तपस्यावाद जैसे विकृत दृष्टिकोणों का प्रादुर्भाव होता है, वहीं दूसरी स्थिति (सामाजिक परिवेश के ज्ञान) में स्पष्ट समझ की कमी से यह प्रकट होता है कि क्यों सामान्य नैतिकता अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाती। यह प्रत्येक नैतिक स्थिति को स्वयं दूसरे ही संदर्भों में ग्रहण करती है, उस समग्रता की सापेक्षता में नहीं, जिसने इसे निर्मित किया है। फलस्वरूप या तो यह एक खंडित अंश-मात्र होकर रह जाता है अथवा गंभीर नैतिक समस्या का केवल एक कामचलाऊ समाधान ही प्रस्तुत करके रह जाता है। निःसंदेह यह सच है कि किसी भी प्रदत्त स्थिति की प्रतिक्रिया मूल रूप से सहज नैसर्गिक बोध की चीज है, अनुचिंतन या विमर्श की चीज नहीं। लेकिन ऐसा नैसर्गिक अवबोध संपूर्ण यथार्थ के ज्ञान के द्वारा ही जागृत हो पाता है। जिस समग्र का यह अंश है, उस समग्र का ज्ञान इसके लिए पहले से ही आवश्यक है। हम कभी-कभी उचित व्यवहार या कर्म करते हैं, लेकिन तब हम महज व्यावहारिक या मात्र अपनी सहज वृत्तियों पर निर्भर रहते हैं जो हमें किसी भी वक्त धोखा दे सकती है, क्योंकि वह अंतर्दृष्टि एक तार्किक और संगत अंतर्दृष्टि नहीं होती, इसलिए समग्र ज्ञान की आवश्यकता होती है। कला के संदर्भ में भी यही स्थिति है। अगर यह अहं के वास्तविक चरित्र का अज्ञान है, जो कला के प्रति गलत आसक्ति का मूल कारण है, तो वहीं दूसरी तरफ यह प्रकृति के संपूर्ण सहकार की आयोग्यता है, जिसके लिए एक कल्पनीय स्थिति की आवश्यकता होती है और जिसके द्वारा ही इसके अनुचिंतन में मनुष्य स्वयं को भूल जाता है। दोनों ही स्थितियों में एक निश्चित विश्वदृष्टि और निःस्वार्थता के आदर्श के प्रति पूरी स्पष्ट समझ की आवश्यकता होती है। संपूर्ण यथार्थ के सही ज्ञान के द्वारा ही यह संभव हो सकता है अथवा जैसा कि न्याय में कहा गया है कि समग्र के उस अंश के ज्ञान द्वारा जो अस्तित्व अथवा इसके परिवेश से संबद्ध होता है, ऐसा ज्ञान व्यक्ति के वांछित आदर्श को परिभाषित तो करता ही है, साथ ही वह उस आदर्श को अर्जित करने के लिए की जा रही यात्रा से व्यक्ति को विचलित होने से रोकता भी है। यहां हम देखते हैं कि कला और नैतिकता—दोनों के लिए एक आध्यात्मिक बुनियाद की आवश्यकता होती है।

अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि अगर यह मान लिया जाए कि वह ज्ञान पूरी तरह से आत्मसात हो गया है, तो वह कैसे कला और नैतिकता के अवबोध या व्यवहार को प्रभावित करता है। जैसा हम पहले संकेत दे चुके हैं, नैतिक कर्म जीवन के निश्चित संदर्भों की आवश्यकताओं से सामान्यतः निर्धारित होता है। यदि किसी समय कोई वृहत्तर दृष्टिकोण अपनाया भी जाता है तो वह आमतौर पर पारंपरिकता पर आधारित और यांत्रिक होता है। इसलिए नैतिक व्यवहार सामान्य तौर पर सचेत चेष्टा और सहज परंपरा के बीच झूलता रहता है। जब यथार्थ की अंतिम प्रकृति अच्छी तरह से ज्ञात हो जाती है तो वे खास स्थितियां भी इसके द्वारा अधिक स्पष्ट और उजागर हो जाती हैं। एक उपयुक्त परिप्रेक्ष्य के द्वारा देखे जाने पर प्रत्येक स्थिति एक नई अर्थवत्ता प्राप्त करती है और इस पर प्रतिक्रिया करते हुए संपूर्ण के साक्षात्कार को ही इसके माध्यम से उपलब्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके परिणाम के रूप में इस स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया न सिर्फ सही होती है, बल्कि स्वतःस्फूर्त भी होती है। यह नैतिक कर्म में संघर्ष और तनाव के स्थान पर (जो नैतिक कर्म का सामान्य लक्षण है) आनंद और उल्लास प्रदान करती है, अर्थात् सौंदर्यानुभव की तरह ही नैतिक कर्म भी न सिर्फ निःस्वार्थ हो जाता है, बल्कि सहज, स्वतःस्फूर्त, आनंदमूलक भी हो जाता है। नैतिकता पर पड़ने वाले ज्ञान के इसी प्रभाव को ही लक्ष्य करके सुकरात ने कहा था—'शुद्धता ही ज्ञान है' (Virtue is Knowledge)। उपनिषद् भी यही शिक्षा देते हैं कि केवल वही कर्म सबसे अच्छा फल दे सकता है जो जागृति और ज्ञान के साथ किया जाता है। सौंदर्यानुभव तो एक काल्पनिक और मनगढ़ंत स्थिति के चिंतन का परिणाम है। लेकिन यह स्थिति स्वयं में संपूर्ण मानी गई है। ज्ञान-प्राप्ति के बाद या जागृति के बाद व्यक्ति संपूर्ण सृष्टि को भी इसी रूप में देखने लगता है और फलस्वरूप वह प्रकृति से अथवा दूसरे कुछ अन्य प्रभावकारी पक्षों से भी सीधे-सीधे वही अनुभव प्राप्त कर सकता है। इस तरह कला की काल्पनिक अंतर्वस्तु वास्तविक संसार का स्थानापन्न हो जाती है और कला को प्रकृति के रहस्यपूर्ण चिंतन में रूपांतरित कर देती है। कला की जो भी अर्थवत्ता है, ज्ञानी उसे जीवन और संसार की समग्रता में ही देखता है। कला स्थाई प्रवृत्ति की एक

अकर्मक अभिव्यक्ति बनती है, उसी तरह, जैसे नैतिकता एक सकर्मक या सक्रिय अभिव्यक्ति है। इसके साथ ही ज्ञान प्राप्त होने के परिणामस्वरूप इस स्थिति में होने वाले पतन, जिसके बारे में हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, का प्रतिफलन रोजमर्रा के जीवन में नहीं, बल्कि सही प्रकार की निःस्वार्थ प्रवृत्ति में होगा। तब कला-आचार नैतिक आचारों के द्वारा विस्थापित होगा, अर्थात् उसी प्रकार की प्रवृत्ति— निर्वैयक्तिक और आनंदमूलक— उस अनुभव के पश्चात् भी उसी तरह से विद्यमान रहेगी, जिस तरह यह उस अनुभव के दौरान थी। दरअसल वह किसी भी प्रकार का पतन ही नहीं है। केवल एकमात्र अंतर यह है कि जहां दूसरी एक निष्क्रिय या अकर्मक अवस्था है, वहीं पहली एक सक्रिय स्थिति है। सर्वोच्च प्रकार की नैतिकता वही होती है जो आनंदमूलक और स्वतःस्फूर्त हो और सर्वोच्च प्रकार की कला वह होती है जो स्वयं प्रकृति को ही अपने विषय के रूप में रूपांतरित कर लेती है। जब ये अवस्थाएं उपलब्ध हो जाती हैं तो कला और नैतिकता के बीच सारे अंतर मिट जाते हैं, सिर्फ एक पक्ष को छोड़कर, जिसकी ओर हम अभी-अभी संकेत कर चुके हैं। इन अर्थों में वे केवल अंतिम तौर पर ही भिन्न ठहरते हैं, किसी और रूप में नहीं। इसलिए संसार के प्रति प्रवृत्ति (रुझान) चाहे वह चिंतनपरक हो या सक्रिय, एक ही रहता है।

यही वह आनंदमूलक और निर्वैयक्तिक अनुभव है जो निरंतर वर्तमान रहता है और जो कला तथा नैतिकता दोनों का ही लक्ष्य है। वे दोनों इसमें संश्लेषित हो जाते हैं। कवि के शब्दों में शिव सुंदर हो जाता है और सुंदर शिव, वाल्मीकि की तरह एक आदर्श पुरुष ऐसा जीवन जीता है जिसकी ये दोनों अवस्थाएं एक तरह की आवर्ती अवस्थाएं हैं। वह ध्यानमग्न रहता है, चिंतन-रत और इसके बीच-बीच के अवकाश में मानव-कल्याण या परोपकार के कर्म में भी प्रवृत्त हो जाता है। लेकिन दोनों में ही वह एक-जैसा प्रसन्न और निःस्वार्थ रहता है। इस तरह सौंदर्यबोधी और नैतिक प्रवृत्तियां एक-दूसरे के साथ इतनी घनिष्ठता के साथ जुड़ी हुई हैं, जितनी हम कल्पना भी नहीं करते। और ये दोनों परम चैतन्यानुभव की केवल आंशिक और तात्कालिक अभिव्यक्तियां मात्र हैं। इस तरह कला और नैतिकता का अर्थ उससे कहीं वृहत्तर है जैसा अमूमन समझा जाता है। इसीलिए सामान्यतया व्यवहार में वे केवल अपने वास्तविक साध्य का आधा ही उपलब्ध कर पाती हैं। परंतु वे मानवीय अनुभव के परम साध्य के अनिवार्य चरित्र का संकेत अवश्य देती हैं। इस लक्ष्य में वे उत्कृष्टता की उच्चावस्था प्राप्त कर लेती हैं। कला और नैतिकता दोनों इसमें कायांतरित हो जाती हैं और इसी के द्वारा व्याख्यायित भी हो सकती हैं। हालांकि हम उसकी प्रकृति को इन्हीं के माध्यम से समझ पाते हैं : मनुष्य के लिए जीवन का आदर्श इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों में से एक में रह जाता है। परंतु दोनों अनिवार्यतः एक ही हैं। कर्म और चिंतन में निर्वैयक्तिक स्वतःस्फूर्त उल्लास ही वह पक्ष है जो दोनों ही अवस्थाओं में अपनी अस्मिता निरंतर बनाए रखता है। गीता जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कभी-कभी इन्हीं अवस्थाओं के और कभी दूसरे पक्ष पर विचार करते रहते हैं। इन दोनों के संदर्भ में अलग-अलग बल दिए जाने का मूल कारण है चिंतकों के बीच आदर्श की अवधारणा के बारे में अंतर। इसी के फलस्वरूप कोई इनमें से एक को अधिक महत्त्व देने लगता है तो कोई दूसरे को। लेकिन इसकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या से यही प्रकट होता है कि एक ही आदर्श की वे दोनों ही प्रत्यावर्ती अवस्थाएं हैं। ❖

अनुवाद : **उदयप्रकाश**

सजा के रिवाज ने समाज के मन की कायापलट कर दी है। सजा दिए जाते वक्त समाज का 'मेंबर' समाज से एकदम अलग पड़ जाता है। समाज सजा पाने वाले को अपने दिल से भुला देता है। सजा दिए जाते वक्त समाज सिर्फ यही देखता है कि बदमाश को बदमाशी की पूरी सजा मिली या नहीं और बदमाशी रुकी या नहीं। बदमाश से बदमाशी क्यों हुई, इस बात से उसको कोई मतलब नहीं। बदमाश भी समाज का 'मेंबर' है, यह उसके ध्यान में नहीं आता। भूल से हमारे हाथ की अंगुली अगर गरम कोयला छू ले तो उससे हमें तकलीफ तो होगी, पर अंगुली को हम सजा नहीं देते, उसकी दवा करते हैं। समाज का 'मेंबर' 'समाज-देह' की एक अंगुली होता है। उसके साथ हम वैसा क्यों नहीं करते? सजा की 'फिलासफी' ही इसकी जिम्मेदार है।

—महात्मा भगवानदीन

भारत का मिशन : समन्वय की साधना

डॉ. रामजीसिंह

विश्व में प्रत्येक देश का अपना-अपना 'मिशन' होता है। रोम का 'मिशन' साम्राज्य एवं शक्ति का विस्तार था। यूनान का 'मिशन' ज्ञान प्राप्त करना था। अरब राष्ट्रों के आविर्भाव के पूर्व मिश्र पिरामिड में मृत व्यक्ति को जीवित रखने की अर्द्ध-अमरता की भावना को संजोता था। इसी प्रकार भारत का भी एक मिशन है—*समन्वय की साधना।* चाहे दर्शन हो या साहित्य, स्थापत्य हो या कला—सब जगह वैविध्य है, लेकिन इन विविधताओं में एकता देखना भारतीय मनीषा की अभीप्सा रही है। आज भी भारतीय राष्ट्र इसी का एक प्रतिदर्श है। राष्ट्र के निर्माण में भाषा, धर्म, प्रजाति आदि प्रमुख तत्त्व माने जाते हैं। किंतु यूरोप में जहां एक ही ईसाई धर्म है, लेकिन दर्जनों राष्ट्र हैं। मध्यपूर्व या दक्षिण एशिया में एक ही धर्म इस्लाम है, किंतु 40 से ऊपर राष्ट्र हैं। एक ही बौद्ध धर्म को मानने वालों के अनेक राष्ट्र हैं। लेकिन भारत में कम-से-कम आधे दर्जन धर्म—वैदिक, इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध, जैन, सिख एवं जरथुश्त धर्म—मानने वाले अनेक जन सैकड़ों सालों से बसे हैं। जहां भाषा को लेकर पाकिस्तान के दो टुकड़े हो गए और हाल में कनाडा में जनमत संग्रह के आधार पर देश का विभाजन बिल्कुल समीप आ गया था, वहां भारत में 18 तो संविधान स्वीकृत राष्ट्रीय भाषाएं हैं, बोलियां तो एक हजार से ऊपर हैं। नस्ल भी एक नहीं—उत्तर भारत के आर्य, दक्षिण के द्रविड़, पूर्वोत्तर भारत के मंगोल—सब एक-साथ रह रहे हैं। इसी प्रकार खान-पान, पोशाक, त्योहार, संगीत, साहित्य में भी स्पष्ट वैविध्य है। शायद भिन्नता में एकता हमारी प्रकृति भी है और नियति भी।

●

भारत इसलिए जगतगुरु माना जा सकता है कि वह समन्वय की संस्कृति का पोषक है। विविधता को विनष्ट करने से देश की एकात्मकता सशक्त नहीं हो सकती। विविधता हमारी अक्षय निधि है। हमारा दायित्व है कि विविधता में एकता का अन्वेषण करें। विविधता में एकता हमारी नियति है। इससे विविधताओं का वैभव भी मिलेगा और एकता का सूत्र भी। जिस प्रकार किसी पुष्प-माला में अनेक रंग के पुष्प होते हैं, लेकिन एक अदृश्य सूत में सब गुंथे होते हैं, उसी प्रकार विभिन्नता एकता के सूत्र में पिरोई रहेगी। हीगेल ने अपने तत्त्वज्ञान में भी इसी एकता और अनेकता का समन्वय कर उसे शक्तिशाली तत्त्वज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया था। इस तत्त्वज्ञान में विरोधों का समागम भी है, लेकिन भारतीय मनीषा ने अनेकता को विरोधी तत्त्व नहीं मानकर एक-दूसरे का पूरक एवं संवर्द्धक माना है।

●

हमारे पाश्चात्य विद्वानों को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। वे तो हमारे ईश्वर-तत्त्व में भी बहुदेववाद या अनेकेश्वरवाद आरोपित करते हैं। वेदों को देखा जाए तो उनमें हमें सूर्य, चंद्र, वरुण, पूषण आदि हजारों देवताओं के दर्शन होते हैं। पर वैदिक देव-निर्माण एवं विकास की प्रक्रिया का यदि हम सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि *'अनेकेश्वरवाद'* भले ही दृश्यमान हो, लेकिन वास्तविक नहीं है। इन अनंत देव-देवियों के पहले तो जल, थल, नभ के क्षेत्रों में, फिर ब्रह्मा, विष्णु, महेश के त्रिविध सम, वर्गीकरण किए गए। *'त्रिमूर्ति'* एवं *'सर्वे देवा'* आदि की कल्पना अनेकता में एकता स्थापित करने का वैचारिक उपक्रम है। फिर तो स्वयं वैदिक ऋषि इन विविधताओं से परेशान होकर पूछते हैं कि इनमें किनको हविष दें? *'कस्मै देवाय हविषा विधेम्'।* देव-निर्माण की कल्पना आगे और भी बढ़ती है। वह परमदेव सगुण है या निर्गुण, साकार है या निराकार? यदि सगुण है तो फिर वह कहां से आया? उसका आविर्भाव होते किसने देखा? *'को दृदश प्रथमा जायमानः?'* उसे यदि प्रथम भी मानें तो उसे जन्म लेते किसने देखा? जैसे यहूदी धर्म-परंपरा में अपनी प्रजाति के नाम पर जेवोह और यूनानी परंपरा में अन्य कुछ को एकेश्वर रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। भारत में एकेश्वरवाद में वैचित्र्य है। एक ही परम सत्य है। लोग उसे अलग-अलग

नाम देते हैं— *'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।'* तत्त्व एक ही है, कल्पनाएं विविध हैं। कोई उन्हें ब्रह्मा, कोई इंद्र, कोई वरुण आदि कहते हैं। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हम कह सकते हैं कि जिन्हें हम ईश्वर कहते हैं, वही खुदा या 'गॉड' कहलाता है—'ईश्वर अल्ला तेरे नाम'। यही नहीं, भारतीय श्रुतियों में देव-कल्पना एकेश्वरवाद से भी बढ़कर 'अद्वैत' तक चली गई है। *'एकमेवाद्वितीयम्। एकोऽहं द्वितीयो नास्ति।'* वह एक तत्त्व सगुण-निर्गुण से परे है। यही नहीं, वह आत्मा, अनात्मा, जगत-कर्ता, अकर्ता आदि कल्पनाओं से परे है। उपनिषद् में उसे 'नेति नेति' कहा गया है, क्योंकि वह शब्दातीत ही नहीं मनसातीत, वचनातीत एवं कल्पनातीत है। इसी प्रकार यहां एकेश्वरवाद की कल्पना से अधिक आगे जाने का उपक्रम प्रकट हुआ।

दर्शन-भेद को भी देखिए। वैशेषिक, जैन, मीमांसा में अनेकता प्रतिष्ठित है, सांख्य में पुरुष-प्रकृति द्वैत है और अंत में अद्वैत का दर्शन आता है। लेकिन वैशेषिक का पंचभूत एवं सांख्य का पुरुष-प्रकृति द्वैत, अद्वैत की जगत-व्याख्या में समाहित कर दिया जाता है। प्रपंच के अंतर्गत सभी को स्वीकार करते हुए व्यवहार-सत्ता में सबों को समाविष्ट किया गया है। *'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'* या *'ईशावास्यमिदं'* कहने से ही सभी का अंतर्विधान हो जाता है।

धर्म-समन्वय की साधना भी हमारी सांस्कृतिक विरासत है। यहां नास्तिक और आस्तिक, सभी सनातन धर्म में स्थान पाते हैं। चाहे वे वेद को मानते हैं या नहीं, किसी को बहिष्कृत करने की परंपरा नहीं है। इसी प्रकार शैव, शाक्त, वैष्णव, उदासी आदि सभी का वैदिक धर्म में समावेश है। इसमें कम-से-कम 300-400 विभिन्न पंथ हैं। असल में भारतीय मनीषा धर्म को संप्रदाय या पंथ-विशेष की सीमा में नहीं रखना चाहती। सभी धर्मों एवं धर्म-प्रवर्तकों तथा सभी धर्मस्थानों के प्रति आदर एवं पूजा का भाव भारतीय धर्म की विशेषता है। इसीलिए विश्वधर्म संसद में स्वामी विवेकानंद ने 'विश्वधर्म' की कल्पना प्रस्तुत की, जिसने विभिन्न धर्मों के विशिष्ट अवदानों से मानव जाति को लाभान्वित होने का निर्देश दिया। हिंदू धर्म की 'आध्यात्मिकता एवं सात्विकता', इस्लाम का 'भ्रातृत्व-भाव एवं समानता' और ईसाइयत की 'सेवा एवं त्याग-भावना' आदि मानव जाति की समान संपत्ति हैं। विनोबा ने तो स्पष्ट कहा कि 'सांप्रदायिक धर्म के दिन बीत गए हैं। अब अध्यात्म एवं विज्ञान के समन्वय का युग आया है।' इसी प्रकार नीति एवं राजनीति की कल्पना में भी विश्वव्यापकता है। राजनीति को ही देखें, आठ प्रकार के राज्यों का वर्णन है। स्वराज्य, वैराज्य, महाराज्य, साम्राज्य आदि। राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ तथा चक्रवर्ती राज्य की कल्पना में अनेकता में एकता का दर्शन है। राष्ट्र-विशेष की संकुचित सीमा में भी रहने की हमारी वृत्ति नहीं। इसीलिए तो *'वसुधैव कुटुंबकम्'* की कल्पना रखी गई है। राज्य की भौगोलिक सीमा से उठकर *'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'* की भावना भी वैश्विकता की ही परिचायक है। आधुनिक समय में विनोबा भावे ने जय-हिंद से ऊपर उठकर जय-जगत का उद्घोष किया।

1978 में विश्वराज्य के लिए प्रयत्न करने का श्री एच. वी. कामथ का एक प्रस्ताव भारतीय संसद ने पारित किया। राष्ट्रीय परिधि से बाहर जाकर 'भारत-पाक महासंघ या 'दक्षिण एशियाई भाईचारा' या विनोबाजी द्वारा 'अ-ब-स' का प्रस्ताव वैश्विकता की ओर बढ़ते चरण हैं। भारत 50 सालों से जो गुट-निरपेक्षता के मंच में अपना योगदान दे रहा है, इसे भी नई विश्व-व्यवस्था के निर्माण में एक प्रभावशाली कदम माना जा सकता है। भले ही चीन से धोखा हुआ है, लेकिन पंचशील एवं सह-अस्तित्व की भावना पुष्ट करना राजनीतिक दृष्टि से समन्वय है।

साहित्य और कला के क्षेत्र में विभिन्नता स्वाभाविक है। इसमें अपनी-अपनी प्रतिभा होती है। यहां भाषा एवं साहित्य का धर्म-विशेष से संबंध नहीं माना गया। उत्तर भारत में हिंदी भाषा के सूत्रधारों में अमीर खुसरो को कोई भूल नहीं सकता। कितने ही मुसलिम कवि हैं जिन्होंने न केवल हिंदी भाषा को समृद्ध किया है, बल्कि राम एवं कृष्ण की भक्ति में वे किसी हिंदू भक्त से कम सराबोर नहीं दीखते। भारतेंदुजी ने ठीक ही कहा है—'इन मुसलमान हरिजन नौ कोटिन हिंदुन बारि हैं'—ऐसे अनेक मुसलमान भक्त कवि हो गए हैं जिन्होंने कृष्ण-मंदिर में मक्के का नूर देखा और ब्रजवीथियों की धूल में लोट-लोटकर अपने इष्टदेव को रिझाने के लिए स्वयं के होश-हवास भूल गए। रसखान और उनकी टोली तो कृष्ण-भक्ति में सराबोर हो गई जबकि यारी या दरिया साहब ने राम-करतार को रिझाने के लिए कबीरं की सुहागिन का साज सजाया। अब्दुल रहीम खानखाना तो रामचरित मानस को साक्षात् कुरान मानते थे—'जमनहि प्रगटकुरान।' रसखान की कृष्ण-भक्ति किसी हिंदू से कम नहीं थी—

मानुष हौं तो वही रसखानि
बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन॥
जो पशु हों तो कहा बस मेरो
चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥

रहीम एवं रसखान के अलावा यारी साहब, दरिया साहब (मारवाड़ वाले), शेख, वजीर, कारेखां, करीम बख्श, इन्शा, वाजिंद, बुल्लेशाह, व्यादिल, मकसूद, मौजदीन, वाहिद्र, दीन दरवेश, अफसोस, खालस, वहजन, मंसूर, लतीफ हुसैन, चकरंग, काबस, निजामुद्दीन औलिया, फ्ररहत, काजी महमूद, आलम, गालिब शाह, महवूबा, नफीस खलीली, सैयद कासिम अली आदि अनेक भक्त मुस्लिम कवि हैं। उर्दू एवं फारसी में भी अनेक हिंदू लेखक हुए। फिराक गोरखपुरी, प्रेमचंद, कृष्णचंदर आदि अनेक उर्दू के स्वनामधन्य लेखक हैं।

मोक्ष-साधन के लिए भी यहां एक मार्ग नहीं माना गया। ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग, कर्मयोग का मार्ग या ध्यान-मार्ग आदि सभी उपयोगी हैं। बल्कि आपस में भी इनमें विरोध नहीं है। सबों का समन्वय भी हो जाता है। श्री अरविंद के पूर्णयोग एवं कहीं समग्रयोग इस समन्वय को प्रकट करते हैं। गीता में कहा ही गया है—

यथा नदीनां बहवो अम्बु वेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा वहन्ति।

यहां तो निष्ठावान हिंदू बुद्ध, जिन ही नहीं, सूफी संतों के दरगाह एवं मजार पर भी भक्तियुक्त पूजा करते हैं। इस्लाम की सूफी धर्मधारा में भी अपार उदारता है।

कहीं समन्वय की यह साधना हमारी दुर्बलता तो नहीं है या इससे सचमुच हमारा नुकसान तो नहीं हुआ है?

इतिहास साक्षी है कि 'समन्वय की साधना' के विपरीत मानसिकता वाली संस्कृतियों के नामोनिशां मिट गए। जो जूलियस सीजर एवं सिकंदर विश्वविजयी बनने की इच्छा करते थे, आज वे इतिहास के कूड़ेदान में चले गए हैं। जो धर्म या संप्रदाय आग और तलवार लेकर फैलना चाहता था उसका वेग थम गया, उसकी प्रतिष्ठा गिर गई है। ईसाइयत, जो विश्व-विस्तारक धर्म बनना चाहता था, उसके धर्मगुरु को रोम में 'धर्म-समन्वय' का सचिवालय बनाना पड़ा। आज धर्म के क्षेत्र में यदि हम सह-अस्तित्व की संस्कृति धारण नहीं कर सकते हैं तो धर्म का अस्तित्व ही संकट में हो जाएगा।

भारत इसलिए जगतगुरु माना जा सकता है कि वह समन्वय की संस्कृति का पोषक है। विविधता को विनष्ट करने से देश की एकात्मकता सशक्त नहीं हो सकती। विविधता हमारी अक्षय निधि है। हमारा दायित्व है कि विविधता में एकता का अन्वेषण करें। विविधता में एकता हमारी नियति है। इससे विविधताओं का वैभव भी मिलेगा और एकता का सूत्र भी। जिस प्रकार किसी पुष्प-माला में अनेक रंग के पुष्प होते हैं, लेकिन एक अदृश्य सूत में सब गुंथे होते हैं, उसी प्रकार विभिन्नता एकता के सूत्र में पिरोई रहेगी। हीगेल ने अपने तत्त्वज्ञान में भी इसी एकता और अनेकता का समन्वय कर उसे शक्तिशाली तत्त्वज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया था। इस तत्त्वज्ञान में विरोधों का समागम भी है, लेकिन भारतीय मनीषा ने अनेकता को विरोधी तत्त्व नहीं मानकर एक-दूसरे का पूरक एवं संवर्द्धक माना है। इस दृष्टि से यहां की समन्वय-साधना में आरंभ और अंत दोनों में विरोध नहीं। भिन्नता विरोधिता नहीं है। हमारे शरीर में हाथ, पैर, आंख, नाक, कान आदि सब पृथक-पृथक तत्त्व हैं, लेकिन सबों के बीच समन्वय है। समन्वय के बिना शरीर का संचालन असंभव है। भारत में हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख आदि के गुण अलग हैं, लेकिन उनके समन्वय में हमारी समृद्धि बढ़ती है। स्वामी विवेकानंद ने इसीलिए कहा था कि—'भारत में इस्लामी शरीर एवं वेदांती मस्तिष्क का समन्वय जरूरी है।' ❖

मन के मैदानों पर ज्ञान और कर्म दौड़ रहे हैं। प्रायः वे साथ नहीं रह पाते। कभी कर्म आगे निकल जाता है; कभी ज्ञान। कर्म को पीछे छोड़कर आगे निकला हुआ ज्ञान दरिद्रता बढ़ाता है और ज्ञान को पीछे छोड़कर आगे निकला हुआ कर्म लालच पैदा करता है। कर्महीन ज्ञान और ज्ञानहीन कर्म की इस दौड़ में देह प्रतियोगी हो जाती है। अपने ही विरुद्ध दौड़कर अपने-आप से हार जाती है; योगी नहीं रह पाती।

—ध्रुव शुक्ल

जैन आचार और विनय

समणी सत्यप्रज्ञा

वीतरागता जैन धर्म का आदि, मध्य और अंतिम बिंदु है। वीतरागता या आत्मा की विशोधि किसी भी देश-काल से प्रतिबद्ध नहीं। अध्यात्म से अनुप्राणित हो जब भावधारा वीतरागता का स्पर्श करेगी, शुद्ध स्वरूप की दिशा में गतिमयता बन जाएगी। भावधारा की विशोधि या निर्मलता ही समूचे आचारशास्त्र का निगमन है। तत्त्व-मीमांसा की संपूर्ण प्ररूपणा आचार में ही अवतरित होने के लिए है। कहा भी गया—*णाणस्स सारमायारो*—ज्ञान का सार आचार है। आचार अपने तक सीमित रहता है और पर के साथ जुड़ने पर वह व्यवहार बन जाता है।

नय के दो आधारस्तंभ हैं—निश्चय और व्यवहार। आचार के संदर्भ में निश्चय और व्यवहार—दोनों ही अपेक्षित हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में अंतर की शुद्धि का महत्त्व अपने लिए अधिक होता है, दूसरों के लिए कम। व्यवहार की कुशलता का महत्त्व अपने लिए कम होता है, दूसरों के लिए अधिक। अंतर की शुद्धि के बिना कोरी व्यवहार-कुशलता छलना बन जाती है और व्यवहार-कुशलता के बिना अंतर की शुद्धि दूसरों के लिए उपयोगी नहीं होती। निश्चय की पृष्ठभूमि से फलित व्यवहार ही सार्थकता को प्राप्त होता है। निश्चय के अभाव में औपचारिक व्यवहार का संपादन भी छद्म बन जाता है। भीतर में निश्चय की साधना कितनी प्राणवान हो—इस तथ्य को जैन-विनय के आलोक में अच्छी तरह समझा जा सकता है।

●

अहिंसा का साधक कभी उदास नहीं हो सकता, भीतर से उभरता आनंद का निर्झर व्यवहार में हर प्राणी के प्रति आत्मीयता का स्पंदन देगा। हर प्राणी के प्रति सम्मान का भाव उस अवस्था में स्वभाव बन जाएगा। विश्वास विश्व का श्वास है। सत्य का साधक सदैव अभय रहते हुए अभय के प्रकंपनों को प्रसारित करेगा। आश्वास और विश्वास की शक्ति से सबका अपना बनेगा, सबको अपना बनाएगा। अचौर्य का साधक कभी विभाव में नहीं जाता, प्रकृति और प्रस्तुति-भेद नहीं जानता। ब्रह्मचर्य का साधक अपनी आत्मा में ही रमण करता है, कहीं राग-बद्ध नहीं होता। अपरिग्रही साधक कभी पदार्थों से नहीं खेलता, मेरेपन की मति से मुक्त हो जाता है। अठारह पाप का वर्जन करने वाला निषेधात्मक भावों में नहीं जाएगा। हर समय सकारात्मक सोच न केवल उसकी जीवनीशक्ति को ही तरोताजा रखेगा, अपितु आस-पास में भी अमृतसिद्धि योग जैसे वातावरण का सृजन करेगा। विनय की यह साधना ही साधक में आत्मिक व व्यावहारिक श्रेष्ठताओं का सृजन करेगी।

●

विनय शब्द का प्रयोग भारतीय प्राच्य साहित्य में विविध अर्थों में देखा जा सकता है। ऋग्वेद संहिता में—स संनयः स विनयः पुरोहितः...(2.3 पृ. 4.9) कहा गया। मनुस्मृति में विनय के अंगीकार की प्रेरणा देते हुए कहा गया—

बहवो विनयान्नष्टाराजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥ (7.40)

तेभ्योऽछधिगच्छे द्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीताम्ता हि नृपतिनं विनश्यति कर्हिचित्॥ (7.39)

सुश्रुत संहिता में वय, शील, शौर्य, शौचाचार के रूप में विनय को जाना गया। (सू. 1, अ. 2) उद्भट ने इंद्रिय विजय का कारण विनय को माना—

जितेंद्रियत्वं विनयस्य कारणम्। (105)

शुक्रनीति में नीति का मूल विनय को स्वीकार करते हुए कहा गया—

नयस्य विनयोमूलं विनयः शास्त्र निश्चयात्।
विनयस्येन्द्रियजयस्तद्युक्तःशास्त्रमृच्छति॥

अर्थात् नीति का मूल विनय है। शास्त्र में निश्चय होने से विनय होता है। विनय का मूल इंद्रियजय है। इंद्रियजई शास्त्रज्ञान प्राप्त करता है। विनय से प्रेषित होती प्रेरणा को शब्द देते हुए हर्षचरित में बाणभट्ट ने कहा—

उपदिशन्ति हि विनयमनुरूपप्रपच्युपपादनेन वाचा विनापि भर्तव्यानां स्वामिनः।

अर्थात् बड़ों की यही रीति है कि

बिना मुख से बोले ही, वे व्यवहार से छोटों को विनय सिखा देते हैं। चाणक्य नीति में भी इंद्रियविजय का मूल विनय को बताया गया। भारतीय साहित्य की दृष्टि से जैन व बौद्ध—दोनों ही शाखाओं को समकालीन माना गया है। विनयपिटक बौद्ध साहित्य का एक प्रतिनिधि ग्रंथ है। विनय का तात्पर्य यहां नियम, विधि-विधान से है। भिक्षुओं की साधना के निमित्त जिन नियमों का उपदेश बुद्ध ने दिया—उनका संकलन इस पिटक में है।

जैन आगमों में विनय मुख्यतः अनुशासन, आत्म-संयम, शील, नम्रता एवं सद्व्यवहार—इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कर्मों के अपनयन का यह महत्त्वपूर्ण हेतु है। इसीलिए विनय शब्द को विश्लेषित करते हुए कहा गया—

विनीयते—अपनीयतेनेन कर्मेति विनयः। (उशावृ 416)

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार—

जम्हा विणयइ कम्मं अट्ठविहं चातुरंतमुक्खाए।
तम्ह उ वयंति विऊ विणउत्ति विलीन संसारा॥ (1217)

जो अनुष्ठान आठ कर्मों को नष्ट करता है, चतुर्गति रूप संसार से मुक्त कराता है, उसे विनय कहा गया है। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया—

ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचाराअशुभक्रियाः,
तासामपोहनं विनयः। (भ. आ. विजयो. टी. 6.112)

योगशास्त्र में *विनीयते क्षिप्यतेऽष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनयः* कहा गया।

विनय को मर्यादा एवं नीति के रूप में प्रयुक्त करते हुए कहा गया—*विशिष्टो विविधो वा नयो विनयः।* (उशाटी पृ. 19) जो विशिष्ट या विविध प्रकार की नीति है—वह विनय है। निरुक्त कोश में *विशेषेण नयनीति विनयः*—जो विशिष्टता की ओर ले जाता है—वह विनय है।

विनय के नैश्चयिक व व्यावहारिक रूवरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा गया—

स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिनिश्चयविनयः तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहार विनयः। (प्र. सा. ता. वृ. 225, 306, 23)

स्वकीय निश्चय रत्नत्रयता की शुद्धि निश्चय विनय है और उसके आधारभूत पुरुषों के प्रति भक्ति—परिणाम व्यवहार विनय है। विनय की प्रेरणा देते हुए कहा गया—

सुदृग्धीवृत्ततपसा मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ।
यत्नोविनयाचारौ वीर्याच्छुद्धेषु तु॥ (सा. ध. 7.35)

मुमुक्षु-जन सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप के दोष दूर करने के लिए जो-कुछ प्रयत्न करते हैं वह विनय है। इस दिशा में अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न करते रहना विनयाचार है।

स्पष्ट है कि जैन आगमों में विनय को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किया गया है। सामान्यतया विनय को व्यावहारिक विनम्रता के रूप में जाना जाता है। जैन साहित्य में भी *पूज्येष्वादरो विनयः, विनयो गुरुशुश्रुषा* (आव. नि. मलय. वृ. 938 पृ. 516)—कहा गया। व्यवहार में माधुर्य, सौहार्द व लक्ष्यसिद्धि के लिए विनयप्रतिपत्ति का बड़ा उपयोग भी माना गया। भगवती आराधना के अनुसार—

विणओ मोक्खद्वारं विणियादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्व संघो य॥ (129)

अर्थात् विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है। विनय से आचार्य व सर्वसंघ की सेवा होती है। आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार—

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजमो भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मोकओतवो॥ (1216)

विनय द्वादशांग का मूल है। विनीत संयत होता है। जो विनय से शून्य है, उसके लिए कहां तो धर्म और कहां तप? धर्म का मूल है विनय-आचार। इसका परम फल है मोक्ष। विनय के द्वारा साधक कीर्ति, श्लाघनीय श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को प्राप्त करता है।

नम्र भाव आचार की एक धारा अवश्य है, पर विनय का तात्पर्य इन सभी प्रसंगों में व्यापक आचार और उसकी विविध धाराओं से है। जैन धर्म वैनयिक नमस्कार नम्रता को ही सर्वोपरि मानकर नहीं चलता, आचार को भी प्रधान मानकर चलता है। आचार का व्यापक दायरा अंतर् व बाह्य—दोनों जगत के प्रसीदन का हेतु है। भीतर को नाराज कर बाहर को खुश रखने का प्रयास अपने साथ प्रवंचना है। भीतर की खुशी के लिए बाहर को नजर-अंदाज करना अपने ही विकास में अवरोध पैदा करना है। आचार भीतर व बाहर—दोनों को साथ-साथ प्रफुल्लता प्रदान करता है। आगमों का निर्देश है—*अप्पाणं विप्पसायए*—अपने-आप को विशेष रूप से प्रसन्न रखो। यह प्रसन्नता किसी स्वार्थ या क्षणिक सुख की उपज नहीं। आचार की सुगंध से आत्मा की प्रसन्नता प्रकट होती है। अनुशासन, आत्मसंयम, नम्रता एवं सद्व्यवहार आचार को पुष्ट बनाने वाले हैं। उत्तराध्ययन में साधक को निर्देश दिया

गया—*अणुसासिओ न कुप्पेज्जा* (1.9)—आज्ञाराधना एक प्रकार का अनुशासन है। साधक अनुशासित होने पर क्रोध न करे, अपितु उसे हित व लाभ का संवाहक मान श्रद्धापूर्वक आचरण में लाए।

अप्पाचेव दमेयव्वो, वरं मे अप्पा दंतो (उत्त. 1.15-16)—जैसे सूक्तों से आत्मसंयम की प्रेरणा दी गई। विनीत ही आत्मसंयम कर सकता है। मन का संयम होने से ही अनुशासन का स्वीकार संभव है। गुरु का अनुशासन कभी इच्छा के प्रतिकूल भी प्रतीत हो सकता है, पर मन का संयम सध जाने पर अनुशासन के प्रति समर्पण सरल हो जाता है। मन पर संयम करने से ही मन पवित्र व प्रशस्त रहता है।

शील व सदाचार की प्रेरणा देते हुए कहा गया—*तम्हा विणयमेसेज्जा, सीलं पडिलभे जओ।* (उत्त. 1.7) अर्थात् दुःशील का बुरा परिणाम समझ कर शील का आचरण करना चाहिए।

अनगार थावच्चापुत्र ने विनय को धर्म का मूल बताते हुए कहा—पांच महाव्रत, अठारह पाप-विरति, रात्रि भोजन-विरति, दस प्रकार के प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएं अनगार विनय हैं। पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, ग्यारह उपासक प्रतिमा आगार विनय हैं (ज्ञात 1.5)। विनय का यह प्रतिपादन समग्र जैन आचार की पृष्ठभूमि को अपने में समाए हुए है। पांच महाव्रत की साधना करने वाला साधक सभी सद्गुणों का आधार बनेगा। अहिंसा की साधना में सजग साधक समत्व में रमण करता हुआ पल-पल मैत्री व नैसर्गिक आनंद से सराबोर रहेगा।

अहिंसा का साधक कभी उदास नहीं हो सकता, भीतर से उभरता आनंद का निर्झर व्यवहार में हर प्राणी के प्रति आत्मीयता का स्पंदन देगा। हर प्राणी के प्रति सम्मान का भाव उस अवस्था में स्वभाव बन जाएगा। विश्वास विश्व का श्वास है। सत्य का साधक सदैव अभय रहते हुए अभय के प्रकंपनों को प्रसारित करेगा। आश्वास और विश्वास की शक्ति से सबका अपना बनेगा, सबको अपना बनाएगा। अचौर्य का साधक कभी विभाव में नहीं जाता, प्रकृति और प्रस्तुति-भेद नहीं जानता। ब्रह्मचर्य का साधक अपनी आत्मा में ही रमण करता है, कहीं राग-बद्ध नहीं होता। अपरिग्रही साधक कभी पदार्थों से नहीं खेलता, मेरेपन की मति से मुक्त हो जाता है। अठारह पाप का वर्जन करने वाला निषेधात्मक भावों में नहीं जाएगा। हर समय सकारात्मक सोच न केवल उसकी जीवनीशक्ति को ही तरोताजा रखेगा, अपितु आस-पास में भी अमृतसिद्धि योग जैसे वातावरण का सृजन करेगा। विनय की यह साधना ही साधक में आत्मिक व व्यावहारिक श्रेष्ठताओं का सृजन करेगी। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : 235 7956/7269, फैक्स : 033 2357269 तार : तेरापंथी

तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में युग-प्रधान श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य व युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के दिशा-निर्देशन में तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन 2003 दिनांक 16 एवं 17 अगस्त को सूरत में आयोजित होगा। इस सम्मेलन में संघीय एवं सामाजिक गतिविधियां, महासभा विजन 2007, तेरापंथी सभाओं का दायित्व, प्रशिक्षित कार्यकर्ता आदि के संबंध में चिंतन-मनन तथा महत्वपूर्ण निर्णय होंगे।

इस प्रतिनिधि सम्मेलन में स्वस्थ चिंतन प्राप्त हो सके, इस हेतु देश-भर की सभी तेरापंथी सभाओं से 4 अधिकृत प्रतिनिधि भेजने के लिए सादर निवेदन है। समुचित व्यवस्था हेतु अग्रिम सूचना प्रेषित कराएं।

सुरेंद्र चोरड़िया	तरुण सेठिया	भंवरलाल सिंघी
अध्यक्ष	महामंत्री	संयोजक

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, गंगाशहर

उपासक प्रशिक्षण शिविर, 2003

प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी उपासक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन दिनांक 13-8-2003 से 21-8-2003 तक सूरत में पूज्यवरों की पावन सन्निधि में किया जाना निश्चित हुआ है। इस शिविर में उन्हीं व्यक्तियों को प्रवेश दिया जा सकेगा जो निम्नलिखित अर्हताएं पूरी करते हों—

(1) शिविरार्थी जैन धर्म एवं तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान हो।

(2) शिविरार्थी की आयुसीमा 25 वर्ष से 60 वर्ष तक होनी चाहिए।

(3) कंठस्थ ज्ञान में अर्हत् वंदना, परमेष्ठी वंदना, पंचपद वंदना व पचीस बोल याद होने चाहिए।

(4) परिषद् के बीच बोलने व गाने की क्षमता अथवा उसके विकास की संभावना होनी चाहिए।

(5) शिविरार्थी स्वस्थ एवं श्रमशील हो।

(6) जो व्यक्ति सामान्यतया अग्रिम वर्ष से 2-3 सप्ताह का समय संघसेवा में देने की स्थिति में हो।

इस शिविर का मुख्य उद्देश्य है प्रशिक्षित उपासक तैयार करना जो केंद्र द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र में जाकर पर्युषण पर्व की आराधना करवाने में श्रावक समाज का सहयोगी बन सके। विशेषकर उन क्षेत्रों में, जहां साधु-साध्वियों का चातुर्मास नहीं होता। ऐसे क्षेत्र में पर्युषण पर्व की आराधना हेतु उपासकों को भिजवाने का निवेदन महासभा अथवा केंद्र में कर सकते हैं, जिसके आधार पर उपासकों को भिजवाने की यथासंभव व्यवस्था केंद्र द्वारा की जाती है।

शिविर में भाग लेने वालों के लिए आवास, भोजन, साहित्य व प्रशिक्षण का समुचित प्रबंध महासभा की ओर से निःशुल्क किया जाएगा। पहले से भाग ले चुके उपासकों के पास जो साहित्य है, वे उसे अपने साथ अवश्य लाएं।

सुमेरमल सुराणा
राष्ट्रीय प्रभारी, उपासक श्रेणी

निर्मलकुमार नौलखा
राष्ट्रीय सह-प्रभारी, उपासक श्रेणी

अनुभूति

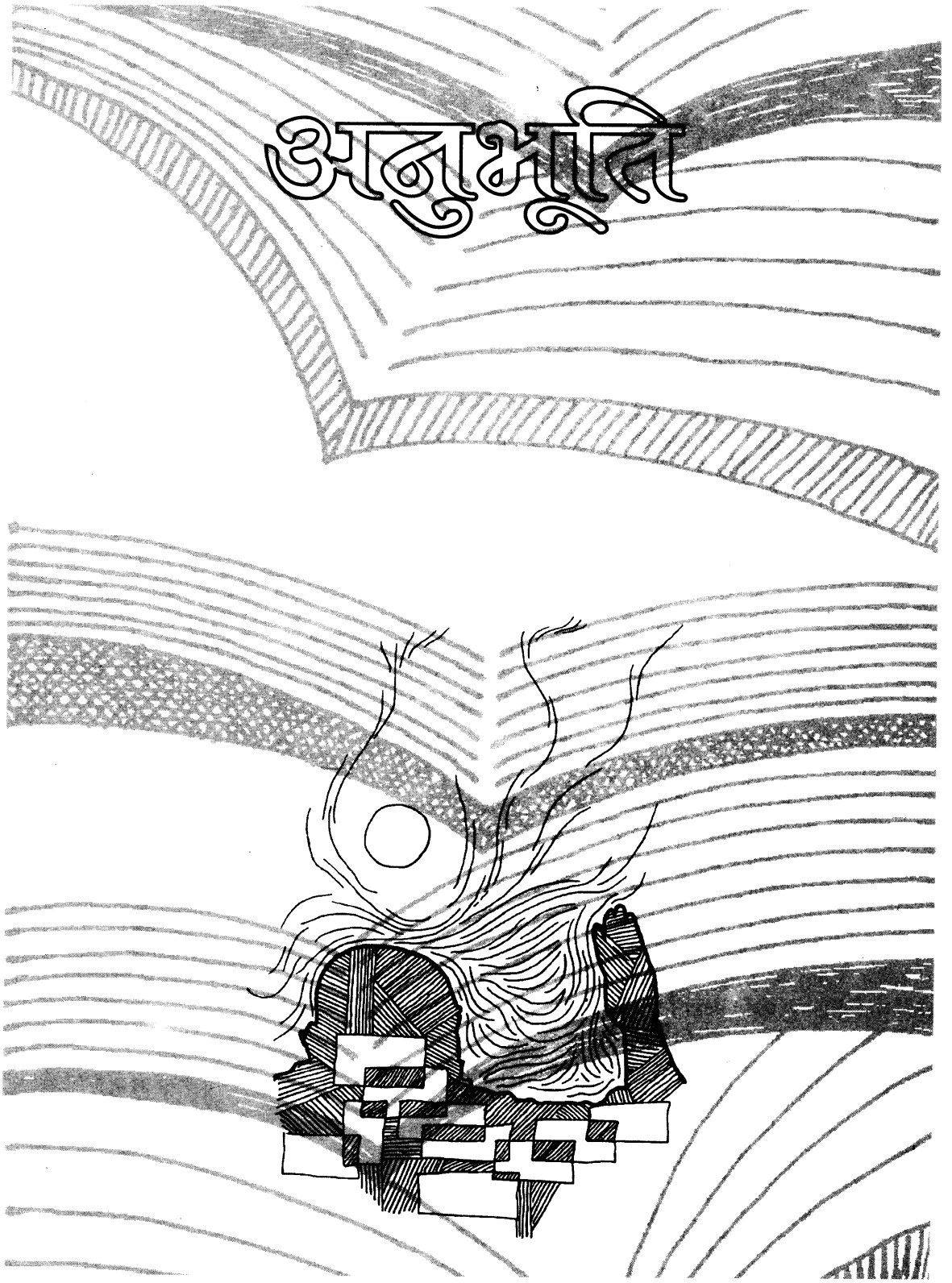

चरण-चिह्न

उस एक रात तारों से पूछा मैंने :
'धोखा न कभी परमेश्वर को इस मन से;
पर तुम हो एक सनातन विश्व-प्रवासी,
क्या चरण कभी देखे हैं उसके तुमने?'

तारे मुसकाए, फिर यह बात कही है :
'वह मुक्त प्रवासी सतत घूमता ही है;
जो तम पर उसके चरण-चिह्न उभरे हैं—
पूछते उन्हीं से तुम, वह है कि नहीं है!'

—कुसुमाग्रज

तेरापंथ का अर्थ : आत्मोत्सर्ग, अनुशासन और समर्पण

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

तेरापंथ क्या है—जो नहीं जानता उसके लिए वह अच्छा भी नहीं है और बुरा भी नहीं है। अच्छाई या बुराई का भाव परिचय से ही प्राप्त होता है। जैसे-जैसे तेरापंथ का विकास होता गया, वैसे-वैसे वह कसौटी पर चढ़ता गया। किसी ने उसकी अच्छाइयों को पकड़ा, किसी ने खामियों को और किसी ने दोनों को। जो अनुरक्त होता है, वह केवल अच्छाइयों को देखता है। कुछ लोग केवल खामियों को पकड़ते हैं। जो मध्यस्थ होते हैं वे दोनों रूपों को देखते हैं। किसी भी संस्थान में केवल अच्छाइयां ही हों या केवल खामियां ही हों—ऐसा कभी नहीं होता। मात्रा-भेद से कहा जाता है कि यह अच्छा है या यह बुरा है।

मैं तेरापंथ की परिधि में ही जन्मा हूं, पला-पुसा हूं। वहीं मुझे शिक्षा-दीक्षा मिली है। एक दिन मैं जन्मना तेरापंथी था। आज मैं कर्मणा तेरापंथी हूं। मैं कहूं कि तेरापंथ अच्छा है तो समझा जाएगा कि यह मेरी श्रद्धा का अतिरेक है। मैं यदि तेरापंथ की खामियां बताऊं तो मेरे ही साथी मेरी निष्ठा को अपरिपक्व मानने लग जाएंगे। मैं ऐसे विषम मार्ग पर क्यों चलूं? क्यों श्लाघा करूं और क्यों खामियों का बखान करूं? अच्छा यही है कि कोई तीसरा ही मार्ग चुनूं। मैं देने का यत्न न करूं। स्फटिक बने रहना अच्छी बात है। जो प्रतिबिंब में उभरेगा, दर्शक स्वयं देख लेंगे।

कुछ लोग आश्चर्य में हैं। आश्चर्य इस बात का है कि लाखों व्यक्तियों का

●

आज के युग की अपेक्षा है—शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक समस्याओं के समाधान की। गरीबी की समस्या का समाधान धार्मिक मंच से नहीं, अपितु कृषि के विकास से होगा; किंतु मानसिक और भावात्मक समस्याओं का समाधान भौतिक जगत के पास नहीं है। किसी सत्ता में इतनी ताकत नहीं कि इस समस्या का समाधान दे सके। एकमात्र धार्मिक और आध्यात्मिक मंच ही इस समस्या का समाधान दे सकता है। तेरापंथ ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता

तेरापंथ स्थापना दिवस पर विशेष

अर्जित की है। अपेक्षा उसी से की जा सकती है जिसके पास शक्ति हो। स्वयं शक्तिहीन दूसरों की समस्या का समाधान नहीं दे सकता। बुझी हुई राख कभी प्रकाश नहीं दे सकती, प्रज्वलित ज्योति ही अंधकार को प्रकाश में बदल सकती है। तेरापंथ ने स्वयं शक्ति अर्जित की है। अनुशासन, संगठन-व्यवस्था के साथ-साथ अहंकार और ममकार का विसर्जन, साथ-ही-साथ सत्य-निष्ठा और ब्रह्मचर्य—ये हमारी शक्ति के स्रोत हैं।

●

यह संगठन; शक्ति और अर्थ का सहारा लिए बिना कैसे निभ रहा है? आचार्य के पास ऐसी क्या सत्ता है कि लाखों व्यक्ति उनको अपना सर्वस्व मानकर चलते हैं। अहिंसा की शक्ति और अपरिग्रह की सत्ता सचमुच एक शक्ति है। तेरापंथ, उसकी व्यवस्था, अनुशासन और मंतव्य जिस तरह उभरकर आए हैं, उसका निमित्त गुरुदेवश्री तुलसी का व्यक्तित्व बना। आचार्य भिक्षु के कर्तृत्व को प्रकाश में लाने का श्रेय आचार्यश्री तुलसी को है, तो आचार्यश्री तुलसी के संगठन को शक्तिशाली बनाने का श्रेय आचार्य भिक्षु को है।

दंड-शक्ति और अर्थ की धुरी पर परिक्रमा करने वाले संगठन जितना मस्तिष्क का स्पर्श करते हैं, उतना हृदय का नहीं। अहिंसा और अपरिग्रह का संबंध सीधा हृदय से है। आचार्य भिक्षु ने आत्मानुशासन को परिपक्व बनाने का प्रयत्न इसीलिए किया कि व्यवस्था स्वचालित बन जाए। जो व्यवस्था चलाई जाती है, वह लंगड़ाती-सी चलती है। सुंदर गति से वही व्यवस्था चलती है, जो स्वयं चले।

धन से धर्म नहीं होता—आचार्य भिक्षु ने यह सिद्धांत उपस्थित किया। तब यह बहुतों को अटपटा लगा। इसकी गहराई को नापने में आज भी कठिनाई होती है। परिग्रह की सत्ता धर्म पर, चैतन्य पर छा जाती है। यह पहले भी रहा है, आज भी है। वे इससे मुक्ति दिलाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने कहा—'धन से धर्म नहीं होता।'

जहां यह माना जाता है कि धन से धर्म होता है, वहां त्याग नीचे रहता है और धन सिंहासन पर। जहां यह माना जाता है कि धन से धर्म नहीं होता वहां धन नीचे लुटता है; त्याग सिंहासन पर रहता है। गुरुदेवश्री तुलसी अकिंचन थे। बड़े-बड़े धनपति उनकी कृपा के लिए तरसते थे। तुलसी आकिंचन्य मुस्कराता तो धन को तरस आता होगा अपने-आप पर।

जिसके केंद्र में परिग्रह है, उससे परिग्रह दूर जाता है। परिग्रह उसके पीछे झूमता है, जिसके केंद्र में परिग्रह नहीं होता। तेरापंथ और उसकी व्यवस्था इसीलिए आश्चर्यजनक है कि उसके केंद्र में परिग्रह नहीं है।

तेरापंथ के साधु-साध्वी और समण-समणी की संख्या 790 है। एक आचार्य के नेतृत्व में इतना बड़ा साधु-समुदाय विरल ही कहीं प्राप्त होगा। इनके आहार-विहार, रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा—सब एक आचार्य के निर्देशानुसार होते हैं। बाहर से लगता है—जीवन नियंत्रित है, लेकिन जिनके लिए माना जाता है कि उनका जीवन नियंत्रित है, उन्हें लगता है कि हम स्वाधीन हैं। उनका अपना अनुशासन है और अपना ही नियंत्रण है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—सब शिष्य एक ही आचार्य के होने चाहिए, साधुओं को अपने-अपने शिष्य नहीं बनाने चाहिए। साधुओं ने कहा—'यही होना चाहिए।' आचार्य भिक्षु ने कहा—'जीवन की सारी चर्या आचार्य के आदेशानुसार ही चलनी चाहिए।' साधुओं ने कहा—'ऐसा ही होना चाहिए।'

प्रश्न होता है, यह ध्वनि की प्रतिध्वनि क्यों? उत्तर बहुत स्पष्ट है। अहिंसा और क्या है? एक में, दो में, तीन में, सबमें कोई विषमता न रहे, समत्व की अनुभूति हो जाए—यही तो अहिंसा है। एक चलाए और सब चलें—यह व्यवहार है। सचाई यह है कि चलने वाले में चलने का भाव हो और चलने वाले चलाने वाले को अविभिन्न मानें। अनुभूति में जो सहयोग होता है वह हृदय को विभक्त नहीं होने देता। यह आवश्यक नहीं कि जो पैर करे वही मस्तिष्क करे और यह संभव नहीं कि जो मस्तिष्क करे वही पैर करे। पर यह आवश्यक है कि पैर और मस्तिष्क की अनुभूति एक हो। तेरापंथ सभी के लिए इसलिए आश्चर्य है कि उसमें संवेदना का धागा अखंड है।

संविभाग की भावना नई नहीं है। यह बहुत पुराना शब्द है। भगवान महावीर ने कहा—'जो मुनि असंविभागी है, वह मोक्ष नहीं पाएगा।' आचार्य भिक्षु ने इस सूत्र को संघ-व्यवस्था का आधार बनाया। वैसे तो साधु अपरिग्रह के व्रती होते हैं, पर जीवन तो आखिर जीवन है, जो जीता है, वह खाता-पीता भी है। जो समाज के बीच रहता है, वह पहनता-ओढ़ता भी है। जो है, वह कहीं रहता भी है। खाने को जो मिले, सब उसे बांट-बांटकर खाएं। कपड़ा जो मिले, उसे बांट-बांटकर पहनें। स्थान जो मिले, उसमें बांट-बांट बैठें, सोएं। बांटने की बात ही प्रधान बन गई। बिना बांटे जिसने एक पाव पानी भी पीया तो वह संघ से बहिष्कृत हो गया। माना जाता है कि बिना बांटे जो अकेला अधिक लेना चाहे, वह अपने साधर्मिकों की चोरी करता है। अचौर्य की भावना के साथ-साथ उसमें संविभाग रम गया। तेरापंथ में संविभाग को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है।

जहां संघ होता है वहां अनेकता होती है। अनेकता से संघ नहीं बनता। संगठन का आधार है एकता। अपने विचारों में भले स्वतंत्रता हो, अनेकता हो, पर संगठन के आधार-भूत मौलिक विचारों में एकता हो—यह अपेक्षित है। आचार्य भिक्षु ने अंतिम निर्णय का अधिकार आचार्य को दिया। तेरापंथ इसीलिए आश्चर्य है कि वह समन्वय की दिशा से अपरिचित नहीं है। वह दूसरों की बुद्धि पर भरोसा करना जानता है।

सेवा को परम धर्म माना गया है। यह संगठन का भी आधार बना। साधुओं का जगत एक अर्थ में बहुत छोटा है। उसमें सब बड़े बन बैठ जाएं तो काम कौन करे? जहां सबमें भाई-भाई का व्यवहार है, वहां नौकर कौन आए? आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था दी—व्यक्तिगत काम स्वयं व्यक्ति करे और सामुदायिक काम सब करें—बारी-बारी से करें। विशेष स्थिति में एक-दूसरे की सेवा करें। जो एक साधु की सेवा करता है वह समूचे संघ की सेवा करता है। जो एक साधु की उपेक्षा करता है, वह समूचे संघ की उपेक्षा करता है। इससे सेवा का भाव बढ़ा। वह साधना का एक अंग बन गया। कब क्या हो जाए, यह प्रश्नचिह्न ही नहीं बनता। इस निश्चिंतता में विजय का जो बीज फलता-फूलता है वह अंतरतम को छू लेता है। इसीलिए माना जाता है कि तेरापंथ का संगठन कोमल धागे से बंधा हुआ है।

तेरापंथ का अर्थ है—आत्मोत्सर्ग। जो व्यक्ति आत्मोत्सर्ग करना नहीं जानता, वह तेरापंथ को नहीं जान सकता। जिस व्यक्ति में आत्मोत्सर्ग की क्षमता होती है, व्यक्तिगत अहं और व्यक्तिगत स्वार्थ के विसर्जन की क्षमता होती है वही व्यक्ति वास्तव में तेरापंथ का अर्थ समझ सकता है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ को जो दर्शन

दिया उसमें सबसे पहली बात आत्मोत्सर्ग की कही। समर्पण और आत्मोत्सर्ग का विकास निरंतर हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं। आज तक की हमारी परंपरा में बहुत पहले से आत्मोत्सर्ग और समर्पण की बात रही है, विनम्रता और अनुशासन की बात रही है।

जिस संघ में गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पण होता है, उस संघ का नाम है—तेरापंथ। साधु बनना, पांच महाव्रतों का पालन करना, पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना अनिवार्य बात है। किंतु उसमें भी अनिवार्य बात है समर्पण और अनुशासन की। आचार्य भिक्षु ने सोचा—यदि संघ में संगठन और अनुशासन नहीं होगा तो महाव्रतों, समितियों और गुप्तियों का पालन भी नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने आचार के साथ-साथ अनुशासन को भी बड़ा महत्त्व दिया।

तेरापंथ आचार-प्रधान संघ है तो साथ-साथ अनुशासन-प्रधान संघ भी है। जितना मूल्य इसमें आचार का है, उतना ही अनुशासन का भी है। आज तक की हमारी परंपरा ने इस बात को प्रमाणित किया हैं कि जिस व्यक्ति ने अनुशासन को भंग किया, वह आचार में भी स्थिर नहीं रह सका। आचार और अनुशासन दो आंखों की तरह हैं। एक आंख फूट जाती है तो आदमी काना बन जाता है। आचार और अनुशासन हमारे दो हाथ और दो पैरों की तरह हैं। एक हाथ या एक पैर के टूट जाने पर आदमी टोंटा या लंगड़ा बन जाता है—हम इस बात का बराबर मूल्यांकन करते रहे हैं। तेरापंथ धर्मसंघ के परिसर में समुन्नत होने वाला और तेरापंथ की आत्मा को समझने वाला व्यक्ति इस बात को बड़ी गहराई से स्वीकार करेगा कि अनुशासन की गरिमा बराबर बनी रहे।

आज मुझे गर्व है कि तेरापंथ के हर श्रावक को अपनी आनुवंशिकता और पैतृक विरासत के रूप में यह भी संस्कार मिलता है। इसलिए हर श्रावक भी अनुशासन और संगठन को बराबर मूल्य देता चला जा रहा है। संघ और संघपति के प्रति अटूट आस्था और समर्पण तेरापंथ की प्रगति का महत्त्वपूर्ण केंद्र है। आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में तेरापंथ ने अपने मौलिक सिद्धांतों को यथावत् रखते हुए जिस प्रकार नई-नई दिशाओं का, नए-नए आयामों का उद्घाटन किया—वह चाहे साहित्य का क्षेत्र हो, चिंतन का क्षेत्र हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो—प्रत्येक क्षेत्र में जो अपने पैर आगे बढ़ाए हैं, वह एक नेतृत्व का ही सुपरिणाम है। तेरापंथ की चहुंमुखी प्रगति का आधार यही रहा है और रहेगा।

उसी बीज का मूल्य होता है जो पल्लवित होकर छांव दे सकता है, रस दे सकता है। उसी ज्योति का मूल्य होता है जो अंधकार को प्रकाश में बदलने की क्षमता रखती है। तेरापंथ आज एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सबको सुखद शीतल छांव दे रहा है। तेरापंथ आज एक दिव्य ज्योति के रूप में अंधकार को प्रकाश में बदल रहा है। नीरसता में सरसता का अंकुरण कर रहा है तथा अनास्था को आस्था में बदल रहा है।

कई बार कहा जाता है कि अतीत की गाथाएं सुनते-सुनते कान बहरे हो जाते हैं। वास्तव में अतीत के साथ हमारा संबंध मात्र पचीस प्रतिशत ही होता है और पचीस प्रतिशत ही संबंध होता है अनागत या कल्पना से, किंतु पचास प्रतिशत संबंध हमारा वर्तमान से होता है। जिसके पैर वर्तमान के धरातल पर टिकते हैं, सही अर्थों में वही अपना मूल्य स्थापित कर पाता है। जिसके पैर अतीत की ओर या अनागत की ओर ही चलते रहे हैं, उसका मूल्य दुनिया में कमतर होता जाता है। आचार्य भिक्षु का विचार, आचार तथा दर्शन आज भी जीवित है। इस दुनिया में जो जीवित है, जिसमें वर्तमान में सांस लेने की क्षमता है—उसी की पूजा होती है। आचार्य भिक्षु स्वयं वर्तमान को समझने वाले थे। उन्होंने वर्तमान को जितना समझा, बहुत कम लोग समझ पाते हैं। वर्तमान और विवेक—दोनों से उन्होंने काम लिया। जो व्यक्ति केवल ग्रंथों या शास्त्रों के आधार पर चलता है, अतीत के आधार पर चलता है और उसके साथ वर्तमान का योग नहीं जुड़ पाता है तो गणित फेल हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने केवल एक पद 'आचार्य' का रखा। लोगों ने कहा—महावीर के समय की यह परंपरा है कि संघ में सात पद होते हैं। महावीर की परंपरा आपने कैसे मिटा दी? आचार्य भिक्षु ने कहा—'सातों पदों को मैं ही देख रहा हूं।' जो अनुशासन, जो संगठन, जो व्यवस्था आज तेरापंथ में है वह न केवल भारतीय समाज में, बल्कि पूरे संसार के धार्मिक संप्रदायों में अद्वितीय मानी जा रही है। उसके पीछे है आचार्य भिक्षु का वर्तमान युग-चेतना के साथ तादात्म्य और विवेकपूर्ण दृष्टि। आचार्य भिक्षु ने कुछ घोषणाएं कीं, कुछ ऐसे सिद्धांत दिए, जो आगमों में स्पष्ट नहीं हैं, पर उन्होंने उनको इतना विकसित किया कि आज वे वर्तमान के विचार बन रहे हैं।

तेरापंथ की विचारधारा सदैव युग के साथ चली है। हमारी मान्यता रही है कि तेरापंथ का आचार्य वही होता है जो वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व करता है। जब आचार्य

भिक्षु की जरूरत थी तब आचार्य भिक्षु जन्मे, जयाचार्य की जरूरत थी तो जयाचार्य, कालूगणी की जरूरत थी तो कालूगणी और आचार्य तुलसी की जरूरत हुई तो आचार्य तुलसी जन्मे। अगर आचार्य तुलसी आज से दो सौ वर्ष पहले जन्म लेते और जयाचार्य आज जन्म लेते तो यह विपर्यय होता। किंतु जयाचार्य की जरूरत थी दो सौ वर्ष पहले, जब तेरापंथ की विचारधारा को गतिमान बनाना था और आचार्य तुलसी की जरूरत थी बीसवीं सदी में जब युग-चेतना के साथ अणुव्रत के माध्यम से तेरापंथ की विचारधारा को जोड़ना था।

आज के युग की अपेक्षा है—शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक समस्याओं के समाधान की। गरीबी की समस्या का समाधान धार्मिक मंच से नहीं, अपितु कृषि के विकास से होगा; किंतु मानसिक और भावात्मक समस्याओं का समाधान भौतिक जगत के पास नहीं है। किसी सत्ता में इतनी ताकत नहीं कि इस समस्या का समाधान दे सके। एकमात्र धार्मिक और आध्यात्मिक मंच ही इस समस्या का समाधान दे सकता है। तेरापंथ ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता अर्जित की है। अपेक्षा उसी से की जा सकती है जिसके पास शक्ति हो। स्वयं शक्तिहीन दूसरों की समस्या का समाधान नहीं दे सकता। बुझी हुई राख कभी प्रकाश नहीं दे सकती, प्रज्वलित ज्योति ही अंधकार को प्रकाश में बदल सकती है। तेरापंथ ने स्वयं शक्ति अर्जित की है। अनुशासन, संगठन-व्यवस्था के साथ-साथ अहंकार और ममकार का विसर्जन, साथ-ही-साथ सत्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्य—ये हमारी शक्ति के स्रोत हैं।

जो संघ अपने संयम और अनुशासन से शक्ति-संपन्न हो उसी से मानव जाति अपेक्षा रखती है। अणुव्रत के माध्यम से, प्रेक्षाध्यान के माध्यम से, नए विचार और सृजनात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से ये अपेक्षाएं पूरी की जा सकती हैं। तेरापंथ की ओर से आज तक किसी भी संप्रदाय के विरुद्ध दो पंक्तियां भी नहीं लिखी गई हैं और न कही गई हैं। अब तक का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। जिस संगठन का इतना सृजनात्मक और रचनात्मक दृष्टिकोण रहा हो, वही देने की क्षमता में आता है।

विकास वही कर सकता है, जिसके मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है—यह कर्मशास्त्रीय भाषा है। मनोविज्ञान की भाषा में विकास वह कर सकता है—जिसका दृष्टिकोण विधेयात्मक होता है। ध्वंसात्मक दृष्टिकोण और विकास—दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की जो नींव डाली उसे सृजनात्मक दृष्टिकोण की नींव कहा जा सकता है। उन्होंने साधुत्व के विकास की ओर ध्यान केंद्रित किया, साथ-ही-साथ आचार और विचार के विकास को भी अपना लक्ष्य बनाया। दूसरों की निंदा के क्षेत्र में वे कभी नहीं गए। तेरापंथ संप्रदाय जगत में एक विलक्षण संप्रदाय है। उसने दो सौ चवालीस वर्षों की इस अवधि में एक इतिहास बनाया है। कभी किसी संप्रदाय की निंदा में अपनी शक्ति नहीं खपाई। इसीलिए वह निरंतर विकास की दिशा में आगे बढ़ा है।

हर व्यक्ति या संस्था के पास सीमित शक्ति होती है। वह सृजनात्मक कार्य में लगेगी तो ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का द्वार बंद हो जाएगा। यदि वह ध्वंसात्मक कार्य में लगेगी तो सृजनात्मकता समाप्त हो जाएगी। हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है कि दोनों काम एक साथ कर सकें। आचार्य भिक्षु में सृजनात्मक प्रतिभा थी। वे तत्त्व की गहराई में उतरकर देखते। काव्य की भाषा में उसे अभिव्यक्ति देते। तर्क की भाषा में लोगों को समझाते। उनकी कवित्व-शक्ति प्रखर थी और तर्क-शक्ति पैनी थी। उनसे सृजनात्मकता की परंपरा का सूत्रपात हुआ। वह आज तक अविच्छिन्न रूप से चल रही है। इसमें हमें बड़े आनंद का अनुभव हो रहा है।

आलोचना या समीक्षा एक स्वस्थ परंपरा है। उसका होना विकास के लिए आवश्यक है। आलोचनात्मक दृष्टि से हम स्वयं अप्रमत्त रहते हैं और दूसरों को भी अप्रमत्त रहने की प्रेरणा दे सकते हैं। वर्तमान में जैन परंपरा में इसका अभाव हुआ है इसीलिए आचार और विचार की परंपरा में कुछ शैथिल्य आया है। समन्वय हो सकता है, किंतु उसके नाम पर 'सब धान सत्ताईस सेर' नहीं हो सकते। जैन शासन में समाचारी का भेद रहा है। भिन्न-भिन्न संप्रदायों की भिन्न-भिन्न समाचारियां रही हैं। फिर भी जैन मुनि की पहचान की मौलिकता उन सबमें रही है। आज उसमें भी अंतर आने लगा है। देश-काल के अनुसार कुछ बदलता है। बदलना जरूरी भी है। बदलने की प्रक्रिया को कभी रोका नहीं जा सकता, किंतु उस पर चिंतन होना जरूरी है। परिवर्तन व्यक्तिगत इच्छा के आधार पर नहीं होना चाहिए।

तेरापंथ धर्मसंघ में परिवर्तन की एक निश्चित प्रक्रिया है। कोई भी परिवर्तनीय विषय आचार्य के सामने उपस्थित किया जाता है। आचार्य उस विषय पर चिंतन करने के लिए साधु-साध्वियों की एक समिति गठित करते हैं। वे उस विषय पर सैद्धांतिक, पारंपरिक, व्यावहारिक—सभी दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। उसके बाद जो निष्कर्ष निकलता है, उसे आचार्य के सामने प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य उस पर चिंतन कर उसे स्वीकार या अस्वीकार

करते हैं। स्वीकृत विषय पूरे संघ में मान्य हो जाता है और अस्वीकृत विषय स्थगित। ऐसी व्यवस्था व्यापक बने। परिवर्तन के लिए सभी संप्रदायों की एक शिखर समिति गठित हो। वाहनप्रयोग, लोच जैसे मौलिक आचार के प्रश्नों पर उपसमिति का चिंतन, निर्णय ही परिवर्तन या अपरिवर्तन का आधार बने। ऐसा अभी हो नहीं सका है, किंतु ऐसा होना बहुत जरूरी है। अन्यथा जैन शासन की मौलिकता भी सुरक्षित नहीं रह पाएगी।

तेरापंथ धर्मसंघ में चिंतन की पूर्ण स्वतंत्रता है, किंतु उसकी मान्यता आचार्य की स्वीकृति-सापेक्ष है। आचार और विचार का समन्वय अनाग्रह से संभव बनता है। एक व्यक्ति का अहं और अहंजनित आग्रह संघ को कभी शक्तिशाली नहीं बनने देता। वर्तमान में कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं है। 'मैं कहता हूं, वही सत्य है' अथवा 'मैं सोचता हूं वही ठीक है' यह ऐकांतिक आग्रह सत्य से असत्य की ओर जाने का मार्ग है। आचार्य भिक्षु ने एक आचार्य के नेतृत्व को इसीलिए महत्त्व दिया कि संघ वैचारिक आग्रहों का अखाड़ा न बने। आचार्य का काम है वैचारिक आग्रहों के उफान पर पानी का छींटा डालते रहना।

यह अनाग्रह का दृष्टिकोण ही रचनात्मक दृष्टिकोण है। इसका विकास होने पर ही शेष विकास संभव बनते हैं। ❖

उच्च शिक्षा हेतु छात्रवृत्ति एवं वित्तीय सहयोग

जय तुलसी फाउंडेशन

मेधावी छात्रों को उच्च शिक्षा के लिए वित्तीय सहायता देने की एक योजना के अंतर्गत आवेदन-पत्र आमंत्रित किए जाते हैं।

1. भारत सरकार की उच्च प्रशासनिक सेवाओं (IAS, IFS, IPS, IAAS, IRS, IES, CSS तथा इनके समकक्ष अन्य) की तैयारी हेतु।
2. मेधावी छात्र उच्च शिक्षा के निम्नांकित क्षेत्रों में अध्ययन के लिए भी वित्तीय सहायता के पात्र होंगे :
   a. चिकित्सा शिक्षा, जैसे MBBS, MS, MD, FRCS, FRCP अथवा समकक्ष स्नातकोत्तर उपाधि पाठ्यक्रम।
   b. तकनीकी शिक्षा अथवा इंजीनियरिंग की किसी भी शाखा में स्नातकोत्तर उपाधि (सूचना तकनीकी सहित)।
   c. विज्ञान अथवा तकनीकी विषयों में स्नातकोत्तर उपाधि।
   d. MBA उपाधि हेतु अहमदाबाद, कोलकाता, बंगलौर, जमशेदपुर, हैदराबाद अथवा इनके समकक्ष के स्थानों में प्रवेश लेने वाले छात्र।

वित्तीय सहायता के इच्छुक छात्र विस्तृत जानकारी एवं आवेदन-पत्र हेतु संपर्क करें :

बच्छराज चिण्डालियां
समन्वयक
जय तुलसी फाउंडेशन
अणुव्रत भवन
210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली 110002
दूरभाष नं. : 23231373, 23231363

साहित्य में प्रतीकों का स्थान और उत्तराध्ययन

समणी अमितप्रज्ञा

भारतीय सभ्यता-संस्कृति का जीवंत प्रतिबिंब भारतीय साहित्य में देखा जा सकता है। धर्म, दर्शन और संस्कृति साहित्य में स्पष्टतः उद्‌बुद्ध हुए हैं। भारतीय साहित्य-विशारदों ने साहित्य-रचना में प्रतीकों का खुलकर सहारा लिया है। प्रतीकों के रथ पर सवार होकर काव्यभाषा जब अपना सफर तय करती है तो भाव-जगत के विशाल प्रासादों के प्रवेशद्वार उन्मुक्त हो उठते हैं। काल की संप्रेष्य भावनाएं अभिव्यक्ति के द्वार बंद देखती हैं तब प्रतीक अनायास उनकी उन्मुक्ति का नया मार्ग प्रशस्त करते हैं। प्रतीकों के माध्यम से नीति, परंपराएं, धार्मिक मान्यताएं, आचार-विचार, आत्मबोध की भावनाएं साहित्य में प्रभावी रूप में प्रतिबिंबित हुई हैं।

आर्ष-वाणी उत्तराध्ययन में कवि-कल्पना से निःसृत कुछ प्रतीक रचनाकार की प्रतीक-निर्मिति के अभिनव आयाम प्रस्तुत करते हैं। उत्तराध्ययन में प्रयुक्त प्रतीकों में से कुछेक की चर्चा यहां प्रस्तुत है—

मिए (मृगः)

इंद्रियों में आसक्त मन का प्रतीक मृग है। मृग शब्द के दो अर्थ हैं—हिरण व पशु। उत्तराध्ययनकार ने पशु की लाक्षणिक विवक्षा से इस प्रतीक का प्रयोग अज्ञानी या विवेकहीन व्यक्ति के लिए किया है—

एवं शीलं चइत्ताणं
दुस्सीले रमई मिए। (उत्तर. 1/5)

अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है।

यहां कवि-अभिप्रेत प्रतीक का भावार्थ है 'अज्ञानं सर्वपापेभ्यः पापमस्ति महत्तरम्'—क्रोध आदि सब पापों से भी अज्ञान बड़ा पाप है। अज्ञान महारोग है, कष्टकर है। अज्ञानरूपी पर्दे से आच्छादित व्यक्ति अपने हित-अहित को नहीं जान पाता।

जगई (जगती)

पृथ्वी को विनीत शिष्य का प्रतीक बनाया गया है। पृथ्वी एक प्रतीक है 'सर्वंसहा' का, 'क्षमाशीलता' का, सभी के आधार का। शास्त्रों में स्थान-स्थान पर कहा गया कि मुनि को पृथ्वी के समान सहनशील होना चाहिए। यहां विनीत शिष्य का प्रतीक बनाकर कहा गया—

हवई किच्चाणं सरणं
भूयाणं जगई जहा।। (उत्तर. 1/45)

जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार आचार्यों के लिए भी वह आधारभूत बन जाती है।

सभी प्राणियों को आधार प्रदान करने के कारण पृथ्वी सबकी आश्रयदाता है, सबका आधार है। आचार्य के लिए विनीत शिष्य के आधार का प्रतीक मानकर शिष्य को पृथ्वी से भी अधिक आधारभूत होने के कवि-इच्छित प्रतीक की ये पंक्तियां साक्ष्य हैं।

दोगुंछी (जुगुप्सी)

अहिंसक के प्रतीकरूप में प्रयुक्त 'दोगुंछी' शब्द का उपयोग निंदा करने

भारतीय साहित्य-विशारदों ने साहित्य-रचना में प्रतीकों का खुलकर सहारा लिया है। प्रतीकों के रथ पर सवार होकर काव्यभाषा जब अपना सफर तय करती है तो भाव-जगत के विशाल प्रासादों के प्रवेशद्वार उन्मुक्त हो उठते हैं। काल की संप्रेष्य भावनाएं अभिव्यक्ति के द्वार बंद देखती हैं तब प्रतीक अनायास उनकी उन्मुक्ति का नया मार्ग प्रशस्त करते हैं। प्रतीकों के माध्यम से नीति, परंपराएं, धार्मिक मान्यताएं, आचार-विचार, आत्मबोध की भावनाएं साहित्य में प्रभावी रूप में प्रतिबिंबित हुई हैं।

वाला, घृणा करने वाला आदि अर्थों में साहित्य-क्षेत्र में पर्याप्त प्रचलन में है। कवि ने इस प्रतीक के प्रचलित अर्थ को थोड़ा विस्तार दिया है और उसे भावार्थ-प्रधान बनाकर उस शब्द के द्वारा प्राणीमात्र के प्रति अहिंसक व्यवहार की अभिव्यंजना कराई है—

तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे।। (उत्तर. 2/4)

अहिंसक, करुणाशील या लज्जावान संयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त पानी का सेवन न करें, किंतु प्रासुक जल की एषणा करें।

'दोगुंछी' का संस्कृत रूप 'जुगुप्सी' गुपू रक्षणे[1] धातु से निष्पन्न है। उसका शाब्दिक अर्थ है—घृणा करने वाला। मुनि हिंसा से, अनाचार से घृणा करता है। प्यास से आक्रांत होने पर भी सचित्त जल का सेवन उसके लिए अनाचीर्ण होने से त्याज्य है, अहितकर है। वह परीषह सहन कर लेता है, किंतु ऐसी हिंसा से घृणा करता है। यहां 'दोगुंछी' शब्द मुनि की अहिंसक वृत्ति का, अविराम साधना का प्रतीक है जो साधु की सही पहचान की प्रतीति कराने में समर्थ है।

लाढे (लाढः)

आगमिक भाषा ऋषि-रचित होने से अध्यात्मपरक है। 'लाढ' मूल रूप में एक प्रदेश का नाम है, किंतु यहां कष्ट-सहिष्णु के रूप में प्रयुक्त होने से काव्यजगत में उभरने वाला आगमकार का यह एकदम नया प्रतीक है—

एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए।। (उत्तर. 2/18)

संयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहों को जीतकर गांव में या नगर में, निगम में या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे।

भगवान महावीर ने लाढ देश में विहार किया था, तब वहां अनेक कष्ट सहे थे।[2] कभी शिकारी कुत्तों के, तो कभी वहां के रुक्षभोजी लोगों के। आगे चलकर 'लाढ' शब्द कष्ट सहने वालों के लिए श्लाघा-सूचक बन गया। संयमी, जो कि कष्ट-सहिष्णु है, उसके लिए 'लाढ' शब्द का अर्थगर्भित प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है।

इसी आगम के 15/2 में लाढ का अर्थ—'सत् अनुष्ठान से प्रधान' किया है।[3] इसी गाथा में प्रयुक्त 'एग' शब्द 'राग-द्वेष रहितता' का तथा जनता के मध्य रहते हुए भी 'अप्रतिबद्धता' का सूचक है।

घयसित्त व्व पावए (घृतसिक्तः इव पावकः)

क्रोध की अभिव्यक्ति, दीप्ति/निर्वाण और तेजस्विता की अभिव्यक्ति के लिए 'अग्नि' प्रतीक सर्वप्रचलित है। स्वयं रचनाकार ने निर्वाण/दीप्ति अर्थ में 'घृतसिक्त-अग्नि' प्रतीक का प्रयोग किया है—

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्त व्व पावए।। (उत्तर. 3/12)

शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है। धर्म उसमें ठहरता है, जो शुद्ध होता है। जिसमें धर्म ठहरता है वह घृत से अभिसिक्त अग्नि की भांति परम निर्वाण (समाधि) को प्राप्त होता है।

घृतसिक्त अग्नि को निर्वाण का प्रतीक बनाकर कवि कहना चाहता है कि पलाल, तृण आदि के द्वारा अग्नि उतनी दीप्त नहीं होती जितनी घृत के सिंचन से होती है। घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं। अतः निर्वाण का अर्थ भी यहां 'बुझना' की अपेक्षा 'दीप्ति' अधिक उपयुक्त है। जिसका जीवन धर्मानुगत होता है, वह आत्मरमण से निरंतर सुख को प्राप्त करता हुआ दीप्तिमान बनता है।

भारुंडपक्खी (भारंडपक्षी)

काव्यजगत में स्वछंद व्यक्तित्व के लिए प्रायः 'पक्षी' प्रतीक का प्रयोग होता है। यहां अप्रमत्त अवस्था का प्रतीक 'भारंडपक्षी' है। जैन साहित्य में यह व्यापक स्तर पर प्रचलित प्रतीक है—

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी न वीससे पंडिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं भारुंडपक्खी व चरप्पमत्तो।।
(उत्तर. 4/6)

आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। काल बड़ा घोर होता है। शरीर दुर्बल है। इसलिए 'भारंडपक्षी' की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे। कवि का प्रतीक संदेश स्पष्ट है कि मृत्यु का कोई निश्चित समय नहीं है, क्षण-भर भी प्रमाद मत करो। प्रमादी को चारों ओर से भय है, अप्रमादी अभय होकर विचरण करता है। अतः 'भारंडपक्षी' की तरह अप्रमत्त होकर विचरण करो।

यहां अप्रमत्तता को उद्घाटित करने के लिए 'भारंडपक्षी' को प्रतीक बनाया गया है।

पत्तं (पात्रं)

पक्षी के सौंदर्य को बढ़ाने वाला तथा निरंतर उसके साथ रहने वाला उपकरण 'पत्त' भिक्षु के भिक्षापात्र का

प्रतीक बन गया है—

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए।। (उत्तर. 6/15)

संयमी मुनि पात्रगत लेप को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के आहार का संग्रह न करे। पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ जाता है, वैसे ही मुनि अपने पात्रों को साथ ले, निरपेक्ष हो, परिव्रजन करे।

श्लेष पर आधारित यह प्रतीक है। 'पत्तं' के दो अर्थ होते हैं—पत्र/पंख और भिक्षापात्र। कवि-अभिप्रेत संप्रेष्य कथ्य यह है कि जैसे पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ता है, इसलिए उसे पीछे की कोई चिंता नहीं होती। वैसे ही भिक्षु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहां जाए, वहां साथ ले जाए, संग्रह करके न रखे—पीछे की चिंता से निरपेक्ष होकर विहार करे।[4]

चेइए वच्छे (चैत्यो वृक्षः)

कवि-मानस स्वभावतः प्रकृति का सहचर होता है। प्रकृति से उसका साहचर्य काव्यभाषा के लिए अनायास ही वरदान बन जाता है। प्रतीक के संदर्भ में भी प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का संयोजन पर्याप्त सहायक है। 'नमिपव्वज्जा' अध्ययन में 'चेइए वच्छे' नमि का प्रतीक बनकर उभरा है—

मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे।
पत्तपुप्फफलोवेए बहूणं बहुगुणे सया।। (उत्तर. 9/9)

मिथिला में एक चैत्यवृक्ष था। शीतल छाया वाला वह वृक्ष, मनोरम, पत्र, पुष्प तथा फलों से लदा हुआ और पक्षियों के लिए सदा उपकारी।

चैत्यवृक्ष को नमि राजर्षि का प्रतीक बनाकर कवि का कहना है कि राजर्षि के शीतल, सुखद आश्रय में सभी मिथिलावासी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हर दृष्टि से नगरवासियों के लिए राजर्षि आधार बना हुआ था।

गाथा में प्रयुक्त 'बहूणं' शब्द भी चूर्णिकार के अनुसार द्विपद, चतुष्पद तथा पक्षियों का द्योतक है।[5]

कुमुयं (कुमुदं)

प्रकृति मनुष्य से भी अधिक संवेदनशील है। कवि-हृदय के अमूर्त उद्गारों की अभिव्यंजना के लिए विभिन्न प्रकृति-प्रतीक माध्यम बनते हैं। शरद् ऋतु का कुमुद निर्लेपता का प्रतीक बना है—

वोछिंद सिणेहमप्पणो कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए समयं गोयम! मा पमायए।।
(उत्तर. 10/28)

जिस प्रकार शरद् ऋतु का कुमुद जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन। हे गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर।

कुमुद को निर्लेपता का प्रतीक बनाकर भगवान ने गौतम को स्नेहमुक्त होने का उपदेश दिया। कुमुद पहले जलमग्न होता है, बाद में जल के ऊपर आ जाता है। चिर संसृष्ट, चिरपरिचित होने के कारण गौतम का महावीर से स्नेहबंधन है। महावीर नहीं चाहते कि कोई उनके स्नेहबंधन में बंधे। इसलिए महावीर ने स्नेह के अपनयन के लिए कुमुद को प्रतीक बना गौतम को प्रेरणा दी।

बहुस्सुतो (बहुश्रुत)

बहुश्रुत कौन? 'बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो'[6]—जो श्रुत का धारक है, वह बहुश्रुत है। 'बहुस्सुयपुज्जा' में बहुश्रुत के प्रसंग में रूढ़ उपमानों के रूप में प्रतीकों का प्रभूत प्रयोग हुआ है।

बहुश्रुत के व्यक्तित्व का सर्वांगीण परिचय कराने वाली सोलह विशेषताएं प्रतीक रूप में प्रस्तुत हैं—

1. निर्मलता : शंख में निहित दूध की तरह निर्मल आभा वाला
2. जागरूकता : आकीर्ण अश्व की तरह निरंतर जागरूक
3. शौर्यवीरता : अजेय योद्धा की तरह पराक्रमी
4. अप्रतिहतता : बलवान हाथी की तरह समर्थ/अप्रतिहत
5. भारनिर्वाहकता : यूथाधिपति वृषभ की तरह भार-निर्वाहक/गण-प्रमुख
6. दुष्प्रधर्षता/अनाक्रमणीयता : दुष्पराजेय सिंह की तरह अनाक्रमणीय (अन्यदर्शनी उस पर वैचारिक आक्रमण नहीं कर सकते)
7. अबाधित बल : वासुदेव की भांति अबाधित बल वाला
8. लब्धिसंपन्नता : ऋद्धिसंपन्न चक्रवर्ती की तरह योगज विभूतियों से संपन्न
9. स्वामित्व : देवाधिपति शक्र की भांति दिव्य शक्तियों का अधिपति
10. तेजस्विता : सूर्य की भांति तेजस्वी (तप के तेज से)
11. कलाओं से परिपूर्णता : पूर्णिमा के चंद्रमा की भांति समस्त कलाओं से परिपूर्ण

12. श्रुतसंपन्नता : कोष्ठागार की भांति श्रुत से परिपूर्ण
13. श्रेष्ठता : जंबू वृक्ष की तरह श्रेष्ठ
14. निर्मलता : निर्मल जल वाली शीता नदी की भांति निर्मल ज्ञान से युक्त
15. अचल और दीप्तिमान : मंदर पर्वत की तरह अचल तथा ज्ञान के प्रकाश से दीप्त
16. अक्षय ज्ञान : नाना रत्नों से परिपूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र की तरह अक्षय ज्ञान तथा अतिशयों से संपन्न।

ये सभी प्रतीक बहुश्रुत की आंतरिक शक्ति तथा तेजस्विता को प्रकट करते हैं। (उत्तर. 11/15-30)

विहारं (विहारं)

विहार शब्द के अनेक अर्थ हैं—मनोरंजन, खेल, आमोद-प्रमोद, घूमना आदि। प्रस्तुत प्रसंग में विहार का प्रयोग एक अन्य अर्थ में जीवन की समग्रता और मनुष्य जीवन के लिए किया गया है—

असासयं दट्ठु इमं विहारं
बहुअंतरायं न य दीहमाउं।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो
आमंतयामो चरिस्सामु मोणं।। (उत्तर. 14/7)

हमने देखा है कि यह मनुष्य जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनंद नहीं है। हम मुनिचर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।

तमं तमेणं (तमस्तमसि)

साहित्य जगत में अंधकार का प्रयोग निराशा, अवसाद या विपत्ति के रूप में प्रचलित है। उत्तराध्ययन में इस प्रचलित अर्थ से दूर न होते हुए भी, उसमें एक अन्य सूक्ष्म अर्थ को समाविष्ट कर विशिष्ट अर्थव्यंजना की गई है—

वेया अहीया न भवंति ताणं भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं। (उत्तर. 14/12)

वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे अंधकारमय नरक में ले जाते हैं।

यहां 'तम' का अर्थ नरक और 'तमेणं' का अर्थ अज्ञान से किया गया है। 'तमंतमेणं' को एक शब्द तथा सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति मानी जाए तो इसका वैकल्पिक अर्थ—अंधकार से भी अति सघन अंधकारमय हैं—वैसे रौरव आदि नरक के रूप में होगा।[7]

यहां 'तमं तमेणं' शब्द अंधकारमय नरक का प्रतीक है।

साहाहि रुक्खो (शाखाभिर्वृक्षो)

पहीणपुत्तस्स हु णत्थि वासो वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं।। (उत्तर. 14/29)

पुत्रों के चले जाने के बाद मैं घर में नहीं रह सकता। हे वाशिष्ठि! अब मेरे भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूंठ कहते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में वृक्ष शब्द पुरोहित का प्रतीक है और शाखा शब्द पुरोहित-पुत्रों का। वृक्ष शाखा से समाधि को प्राप्त होता है। अर्थात् मेरे पुत्र संयम स्वीकार कर रहे हैं, शाखाएं मेरे से अलग हो रही हैं। कटी हुई शाखाओं वाला वृक्ष ठूंठ कहलाता है। प्रतीक—संकेत है कि मैं ठूंठ की तरह असहाय होकर नहीं जी सकता।

सिरं (शिरः)

मानव जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य-प्राप्ति की व्यंजना इस प्रतीक के माध्यम से हुई है, जो व्यक्ति को जातिपथ/जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त कर शाश्वत स्थान पर प्रतिष्ठित करता है—

तहेवुग्गं तवं किच्चा अव्वक्खित्तेण चेयसा।
महाबलो रायरिसी अद्दाय सिरसा सिरं।।
(उत्तर. 18/50)

इसी प्रकार अनाकुल चित से उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना शिर देकर शिर/मोक्ष को प्राप्त किया।

कवि का वर्ण्य विषय यहां शिर नहीं, वह तो अप्रस्तुत है। प्रस्तुत है—वह उच्चतम स्थान जिसे प्राप्त कर व्यक्ति शाश्वत आनंद में रमण करने लगता है।

शरीर में सबसे ऊंचा स्थान शिर का है तथा लोक में सबसे ऊंचा मोक्ष/अपवर्ग है। इस समानता के कारण मोक्ष को 'सिर' कहा है।[8]

'सिरसा' शब्द भी जीवन निरपेक्षता का प्रतीक है। सिर दिए बिना अर्थात् जीवन निरपेक्ष हुए बिना साध्य की उपलब्धि नहीं होती। 'सिरसा' शब्द में 'इष्टं साधयामि पातयामि वा शरीरम्' की प्रतिध्वनि है।

कावोया (कापोती)

भिक्षु षट्जीवनिकाय का रक्षक होने से स्वयं भोजन नहीं बनाता। गृहस्थ के द्वारा स्वयं के लिए बनाए हुए भोजन में से उसका कुछ अंश लेकर अपना जीवन-निर्वाह करता है। जैन साहित्य में भिक्षुओं की भिक्षा का नामकरण पशु-पक्षियों के नामों के आधार पर किए गए हैं। यथा—माधुकरी-वृत्ति, कापोती-वृत्ति, अजगरी-वृत्ति आदि। प्रस्तुत प्रसंग में कापोती-वृत्ति भिक्षु की भिक्षावृत्ति का प्रतीक है—

कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बंभवयं घोरं धारेउं अ महप्पणो।।

(उत्तर. 19/33)

यह जो कापोती-वृत्ति (कबूतर के समान दोष-भीरु वृत्ति), दारुण केश-लोच और घोर ब्रह्मचर्य को धारण करना है—वह महान आत्माओं के लिए भी दुष्कर है।

यह प्रतीक दोष-भीरु वृत्ति का संवाहक बनकर आया है। वृत्तिकार ने कापोती-वृत्ति का अर्थ किया है—कबूतर की तरह आजीविका का निर्वहन करने वाला। जिस प्रकार कापोत धान्यकण आदि को चुगते समय नित्य सशंक रहता है, उसी प्रकार भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनि एषणा आदि दोषों के प्रति सशंक होता है।[9]

किंपागफलाणं (किम्पाकफलानां)

भोगों की विरसता के निदर्शन के लिए 'किंपाकफल' को प्रतीक बनाया गया है—

जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुंदरो।।

(उत्तर. 19/17)

जिस प्रकार किंपाक फल खाने का परिणाम सुंदर नहीं होता, उसी प्रकार भोगों का परिणाम भी सुंदर नहीं होता। प्रतीक का संदेश है कि किंपाक फल देखने में बहुत सुंदर और खाने में अति स्वादिष्ट होता है। किंतु उसको खाने का परिणाम प्राणांत है। वैसे ही भोग भोगते समय सुखानुभूति होती है, पर उनका परिणाम सुंदर नहीं होता।

परिणाम-अभद्रता का प्रतीक किंपाक फल-भोग सेवन के दुखद परिणाम का निर्देश करता है।

विज्जुसोयामणिप्पभा (विद्युत्सौदामिनीप्रभा)

क्षणिकता, स्फूर्ति, त्वरिता, दीप्ति, ओज आदि जीवन-तत्त्वों का अंतःकरण में एक साथ संचार करने वाले प्रतीक का प्रयोग उत्तराध्ययन में राजीमती की शारीरिक कांति/दीप्ति द्योतित करने के प्रसंग में हुआ है—

अह सा रायवरकन्ना सुसीला चारुपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपुन्ना विज्जुसोयामणिप्पभा।।

(उत्तर. 22/7)

वह राजकन्या सुशील चारुप्रेक्षिणी, स्त्री-जनोचित, सर्वलक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी। सर्वलक्षण-युक्त राजीमती के शारीरिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए 'विद्युत' प्रतीक के रूप में उपन्यस्त किया गया है।

दुट्ठस्सो (दुष्टाश्वः)

अश्व को मन का प्रतीक बनाकर कवि कहते हैं—

अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयम! आरूढो कहं तेण न हीरसि?।।

(उत्तर. 23/55)

यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है। गौतम! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता? इस प्रतीक से कवि कहना चाहते हैं कि मनरूपी अश्व को श्रुतरूपी लगाम से बांधकर सन्मार्गगामी बनाओ।

भाणू (भानुः)

'तमसो मा ज्योतिर्गमय'—अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल। यह प्रकाश अस्मिता व सर्वज्ञता का है। मोक्ष का मार्ग तपोमय साधना की अपेक्षा रखता है। जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, तप के तेज से दीप्त है, उस देदीप्यमान ज्योति-पुंज को बिंबायित करने में 'भाणू' प्रतीक सटीक और सक्षम है—

उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं।।

(उत्तर. 23/76)

समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा। तेजस्विता का पुंज सूर्य प्राणियों के अज्ञान तथा मोहरूपी अंधकार को नष्ट करने वाले अर्हतरूपी भास्कर का प्रतीक बनकर उपस्थित हुआ है। महावीररूपी सूर्य का पृथ्वी पर अवतरण प्राणियों के लिए उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

सारही (सारथिः)

सारथि शब्द पथप्रदर्शक का प्रतीक है। कवि ने इस प्रचलित अर्थ को ध्यान में रखकर आचार्य के प्रतीक के रूप में यहां प्रस्तुत किया—

अह सारही विचिंतेइ खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं अप्पा मे अवसीयई।।(उत्तर. 27।15)

कुशिष्यों द्वारा खिन्न होकर सारथि (आचार्य) सोचते हैं—इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या? इनके संसर्ग से मेरी आत्मा अवसन्न—व्याकुल होती है।

'सारही' का शाब्दिक अर्थ है—रथवान, मार्गप्रदर्शक। प्रस्तुत प्रसंग में यह लाक्षणिक प्रयोग आचार्य के प्रतीक के रूप में हुआ है। जैसे सारथि उत्पथगामी या मार्गच्युत बैल या घोड़े को सही मार्ग पर ला देता है, वैसे ही आचार्य भी अपने शिष्यों को मार्ग पर ला देते हैं।[10]

अंतकिरियं (अंतक्रिया)

मोक्ष के प्रतीक-रूप में 'अंत' शब्द का प्रयोग—

नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणो ववत्तिगं आराहणं आराहेइ।।

(उत्तर. 29/सूत्र 15)

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधिलाभ से संपन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है। अंत का तात्पर्य है भव या कर्मों का विनाश। उसको फलित करने वाली क्रिया अंतक्रिया कहलाती है। यहां तात्पर्यार्थ के रूप में 'अंत' शब्द मोक्ष का प्रतीक है।

सप्पे (सर्पः)

दुर्व्यवहार, कटु भाषण, छल-कपट आदि की प्रस्तुति के लिए 'सर्प' प्रतीक प्रयुक्त होता रहा है। उत्तराध्ययन के ऋषि ने इस प्रचलित प्रतीक को गंधासक्ति की अभिव्यंजना हेतु अपनी काव्य-भाषा का उपकरण बनाया है—

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते।।

(उत्तर. 32/50)

जो मनोज्ञ गंध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नागदमनी आदि ओषधियों की गंध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

प्रत्यक्षतः सर्प दूसरों का घातक होता हुआ भी यहां गंध में आसक्त होता हुआ स्वयं के द्वारा ही अकाल में विनाश को प्राप्त होता है।

इंदियचोरवस्से (इन्द्रियचोरवश्यः)

विषयों में प्रवृत्त इंद्रियां भीतर बैठे चैत्यपुरुष को सुला देती हैं। अतः यहां चोर के प्रतीक के रूप में 'इंद्रिय' शब्द का प्रयोग नवीनतम है—

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू पच्छाणुतावे य तवप्पभावं।
एवं वियारे अभियप्पयारे आवज्जई इंदियचोरवस्से।।

(उत्तर. 32/104)

इंद्रियां ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षायोपशमिक भाव हैं। जब वे राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति में लिप्त हो जाती हैं, तब मनुष्य का धर्मरूपी सर्वस्व छिन जाता है। अतः चोर के रूपकात्मक प्रतीक के रूप में इंद्रियों का साभिप्राय प्रयोग उपयुक्त है।

विशिष्ट भावों की अभिव्यक्ति और नई दृष्टि के निर्माण के साथ ही इन प्रतीकों ने अमूर्त विचारों एवं आध्यात्मिक-नैतिक सिद्धांतों को साकार बनाया है—यह कवि की सृजनात्मक प्रतिभा का प्रमाण है। ❖

संदर्भ :

1. संस्कृत धातुकोष, पृ. 36
2. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 482 : लाढेसु अ उवसग्गा, घोरा...। ततो भगवान् लाढासु जनपदेगतः तत्र घोरा उपसर्गा अभवन्।
3. बृहद्वृत्ति, पत्र 414 : 'लाढे' त्ति सदनुष्ठानतया प्रधानः।
4. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. 156 : यथाऽसौ पक्षी तं पत्रभारं समादाय गच्छति एवमुपकरणं भिक्षुरादाय णिरवेक्खी परिव्वए।
5. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. 182 : बहूणं दुप्पयचउप्पदपक्खीणं च।
6. निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि, पृ. 495
7. बृहद्वृत्ति, पत्र 400
8. बृहद्वृत्ति, पत्र 447 : 'शिरं' ति शिर इव शिरः सर्वजगदुपरिवर्तितया मोक्षः।
9. बृहद्वृत्ति, पत्र 456, 457
10. बृहद्वृत्ति, पत्र 553

❖❖

ये लोग भी कैसे हैं? सांप्रदायिक मतों में पड़कर अनेक तरह की दलीलें पेश करते हैं और सत्य और असत्य दोनों का ही प्रतिपादन कर देते हैं। अरे! सत्य तो जगत में एक ही है, अनेक नहीं।

—भगवान बुद्ध

संपिक्खइ अप्पगमप्पएणं : सूत्र है आत्मविकास का

मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

आत्मनिरीक्षण एक विराट प्रक्रिया है। अपनी सुप्त शक्तियों का एहसास, विकास के सामर्थ्य की अनुभूति, सोच की सकारात्मकता, जीवन-स्वरूप की पहचान, जीवन-शैली का निर्धारण, अध्यात्मवाद, भावात्मक संतुलन, आत्मानुशासन, सामाजिक-उत्तरदायित्व, सामुदायिक-चेतना, सर्व-धर्म-सद्भाव, मानवीय मूल्य और मानवीय एकता आदि विभिन्न विषय इसकी परिधि में अंतर्निहित हैं। आत्म-निरीक्षण आध्यात्मिक, आत्मिक-सत्य, शिवत्व और सौंदर्य-उपलब्धि की सटीक कला है। दर्पण-दर्शन की क्रिया के सदृश यह प्रिय और मनोनुकूल उपक्रम है।

दर्पण-दर्शन की क्रिया चार स्तरों तक फैली हुई है। प्रथम अनिष्ट, अयुक्त और न्यूनता का अंकन। दूसरे स्तर पर अयुक्त-व्यर्थ के परिमार्जन का चिंतन। तीसरे स्तर पर चेहरे को खिलाने के लिए अभीष्ट अपेक्षित द्रव्य संयोजित करने की कल्पना और चौथे स्तर पर कलात्मक ढंग से मुख-आभा की पूर्ण श्री-अभिवृद्धि का रचनात्मक निर्णय।

वैसे ही आत्मनिरीक्षण की भी चार कड़ियां जुड़ी हुई हैं। प्रथम आत्मनिरीक्षण, द्वितीय आत्मशोधन, तृतीय आत्मनिर्माण और चतुर्थ आत्मविकास।

आत्मनिरीक्षण का अर्थ

आत्मनिरीक्षण का अर्थ है—स्वयं के द्वारा स्वयं का वास्तविक आकलन करना। 'संपिक्खइ अप्पगमप्पएणं'—आत्मा के द्वारा आत्मा का सर्वांगीण निरीक्षण करना। अपने-आप अपने-आप

●

परिष्करण, परिवर्द्धन, संवर्द्धन और पूर्णता के लिए आत्मनिरीक्षण बहुत अर्थवान प्रक्रिया है। यह विकास की पहली कड़ी है। आयुर्वेदशास्त्र में पहले शरीर के रोग का निदान किया जाता है, फिर उपचार की क्रिया चलती है। व्यक्ति अपनी सोच, प्रकृति, प्रवृत्ति, साधना और व्यवहार का चेतना के सूक्ष्म यंत्र से अवलोकन करे कि कौन-सा कर्म कैसा चल रहा है? कहां परिष्कार की और परिवर्तन की अपेक्षा है। सुधारवादी और प्रगतिशील व्यक्ति मुक्त चिंतक होता है। वह किसी स्थिति या क्रिया से आंख मूंदकर उससे चिपटा नहीं रहता, उपयोगी और युक्तिसंगत का खोजी और उपासक होता है। स्वयं और स्वयं की कार्य-पद्धति की पहचान त्रुटियों और स्खलनाओं से बचकर समीचीनता एवं श्रेष्ठता की दिशा में बढ़ने की भूमिका बनाती है।

●

की व्यवहार-चर्या की गहराई से सम्यक् प्रेक्षा करना। व्यक्ति के स्वयं के स्वयं से निकट और कुछ नहीं होता। वह स्वयं अपनी कमियों, कमजोरियों, निर्बलताओं, क्षमताओं और विशेषताओं को जितना स्पष्ट व यथार्थ रेखांकित कर सकता है, उतना सघन आकलन दूसरा कोई नहीं कर सकता है। इसीलिए आत्मनिरीक्षण का सूत्र सुझाया गया है ताकि वस्तुस्थिति का सही निर्णय होकर सुधार की ओर कदम बढ़ाए जा सकें। दूसरे की टोकाटोकी से तो सामान्यतया सुधार की संभावना कम हो जाती है।

परिष्करण, परिवर्द्धन, संवर्द्धन और पूर्णता के लिए आत्मनिरीक्षण बहुत अर्थवान प्रक्रिया है। यह विकास की पहली कड़ी है। आयुर्वेदशास्त्र में पहले शरीर के रोग का निदान किया जाता है, फिर उपचार की क्रिया चलती है। व्यक्ति अपनी सोच, प्रकृति, प्रवृत्ति, साधना और व्यवहार का चेतना के सूक्ष्म यंत्र से अवलोकन करे कि कौन-सा कर्म कैसा चल रहा है? कहां परिष्कार की और परिवर्तन की अपेक्षा है। सुधारवादी और प्रगतिशील व्यक्ति मुक्त चिंतक होता है। वह किसी स्थिति या क्रिया से आंख मूंद-कर उससे चिपटा नहीं रहता, उपयोगी और युक्तिसंगत का खोजी और उपासक होता है। स्वयं और स्वयं की कार्य-पद्धति की पहचान त्रुटियों और स्खलनाओं से बचकर समीचीनता एवं श्रेष्ठता की दिशा में बढ़ने की भूमिका बनाती है।

निरंतर की क्रिया

आत्मनिरीक्षण दर्पण-दर्शन के समान निरंतर की प्रक्रिया है। प्रतिक्षण

यह चेतना कटिबद्ध-सन्नद्ध रहनी चाहिए।

संस्कृत श्लोक में यही मर्मोद्घाटन है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत, नरश्चरितमात्मनः
किंनु मे पशुभिस्तुल्यं किंनु सत्पुरुषैरिति

मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र का पर्यवेक्षण करना चाहिए कि मेरा कौन-सा आचरण विवेकहीन पशुओं के समकक्ष है और कौन-सा शिष्ट सज्जनों के समान है। विशुद्ध बुद्धि से किया गया यह आत्म-विश्लेषण आत्म-परिमार्जन का दीर्घ-द्वार खोल देता है। क्षण-क्षण की सजगता, सतर्कता जीवन-पुस्तिका के पृष्ठों को रंगीन व स्वर्णिम बना देती है।

सुधार की अपेक्षा हमेशा बनी रहती है। कितना ही सुधार और विकास कर लें, उनके लिए आगे भी अवकाश बना ही रहता है। जापान के प्रसिद्ध लेखक मसाकी इमाई ने अपनी पुस्तक काईजन (निरंतर सुधार) में निष्कर्ष निकाला है कि विशिष्टता व सुधार की कोई सीमा नहीं होती। कितना भी सुधार कर लो, फिर भी गुंजाइश बनी रह जाती है। मसाकी इमाई की यह 'थ्योरी' आज जीवन के हर पक्ष पर लागू होती है।

जीवन के अनगिन पक्ष हैं। उनका विश्लेषण कर निर्णय लेते जाएं कि उनमें क्या परिष्कार अपेक्षित हैं और वे कैसे लाए जा सकते हैं। निरंतर सुधार व विकास करते हुए बुलंदियों को छुआ जा सकता है और आशातीत सफलता पाई जा सकती है।

प्रमुख पहलू

आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण, आत्मावलोकन और आत्म-मूल्यांकन एक भावात्मक शब्द-विन्यास है। आत्म-निरीक्षण का प्रमुख बिंदु है—

एगोहं सासओ अप्पा
नाण, दंसण संजुओ

—मैं एक शाश्वत आत्मा हूं—रंग-रूप वाली सप्त धातुमय। यह जो दृश्य आकृति है, वह मैं नहीं हूं। इससे भिन्न इसमें जो चेतनात्मक, ज्ञानमय अदृश्य अस्तित्व विद्यमान है—वह मैं हूं। आत्मा और शरीर की भिन्नता का दर्शन आत्मनिरीक्षण का प्रमुख बिंदु है। निश्चय नय की दृष्टि से शरीर और आत्मा दोनों म्यान और तलवार की तरह सर्वथा भिन्न है। अंतर्मन में यह परिपक्व अवबोध होना आत्मनिरीक्षण का प्रथम पदन्यास है। शरीर क्षणभंगुर और जड़तामय है, आत्मा शाश्वत और चिदात्मक है। आत्मा अमूर्त सत्ता है, इसलिए वह इंद्रियग्राह्य नहीं है। शरीर हमारा अस्थाई साधन है, साध्य नहीं। हम शरीर पर ही अपनी समग्र शक्ति व्यय न कर दें। शरीर मेरे से पृथक है, इसका छूटना अवश्यंभावी है—यह सच्चिंतन शरीर की मूर्च्छा और आसक्ति छूटने की बहुत सार्थक सन्मति है। यहीं से आत्मा सत्य की उपासक बनती है।

आत्मशोधन

आत्मनिरीक्षण की दूसरी कड़ी है—आत्मशोधन। जैसे वस्त्र पर लगे दाग धोने से वस्त्र स्वच्छ-उज्ज्वल होता है, वैसे ही बुरे कर्म छूटने से आत्मा पवित्र बनती है।

जीवन तीनों कालों से अनुस्यूत है—अतीत की परिणतियां, वर्तमान के कार्यकलाप और भविष्य की कल्पनाएं एवं योजनाएं। आत्मनिरीक्षण का आलोक तीनों कालों में फैलता है—*किं मे कडं*—अतीत में मैंने आज तक क्या किया है? कृत्य और आचरणीय का ही आचरण किया है अथवा प्रमादवश अकृत्य भी कर गया। मैं अपने मनुष्य पर्याय के प्रति कितना खरा-खोटा हूं। *किं मे परोपासइ किं च अप्पा*—मेरी खामियों और दोषों को मैं ही देख रहा हूं अथवा दूसरे भी उस पर नजर दौड़ा रहे हैं? आदत से लाचार मैं अपनी किन बुरी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का वर्जन नहीं कर रहा हूं—यों जागृत चेतना से आत्म-निरीक्षण के द्वारा अपने व्यक्तित्व का सही अवबोध होने पर दुर्गुणों-दुर्व्यसनों से आत्मा छुटकारा पाती है, उनसे मुक्त होती है, त्याज्य और निंद्य कर्मों का परित्याग करती है। अधम व निकृष्ट प्रवृत्तियों के मूल हेतु राग-द्वेष को *छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं*—द्वेषवृत्ति को छेदना और राग-मोह-मूर्च्छा भाव से मुक्त होना—यही दशा आत्मशोधन व आत्मपरिष्कार की है। क्षुद्र-वृत्तियों का एवं अमानवीय व्यवहारों व प्रवृत्तियों का त्याग ही सुधार का राजपथ है। व्यक्ति इस आत्मशोधन के साथ है। आगे के लिए सुदृढ़ संकल्प करता है—*इयाणिं नो जमहं पुव्व मकासी पमाएणं*—प्रमाद से जो मैंने पूर्व में गलत किया है, वह अब कभी नहीं करूंगा।

आत्मनिर्माण

आत्मनिरीक्षण की तीसरी कड़ी है—आत्मनिर्माण। रोग कटने के बाद जैसे आरोग्य उपलब्ध होता है, शरीर में विभिन्न प्रकार की ऊर्जाओं का जागरण व संवर्धन होता है—वैसे ही विकृतियों, बुराइयों और विसंगतियों से मुक्ति पाने के बाद आत्मा को सद्गुणों से सजाने-संवारने का अवसर मिलता है। कल्मष छूटने और कषायों के उपशांत होने से स्वच्छ, प्रशांत आत्मा में श्रेष्ठ सद्गुणों का और

विभिन्न वरिष्ठताओं का अवतरण-आविर्भाव होने लगता है। प्रयत्नपूर्वक उच्चताओं का और विरल विशेषताओं को भंडार में रत्नों की तरह सन्निहित किया जाता है। *किंच मे किच्च सेसं*—मेरे लिए क्या श्रेष्ठ कृत्य शेष हैं, कौन-से सृजनात्मक श्लाघनीय कार्य व कौन-सी श्रेयस्कर साधनाएं बाकी हैं—मैं उन गुणों को ग्रहण करूं, जो मेरे जीवन को प्रशस्त व पूर्ण बनाते हैं, जीवन की समुज्ज्वल आभा छिटकाते हैं। मैं अपने जीवन में समभाव को विकसित करूं।

धारेज्जा पियमप्पियं—मैं प्रिय-अप्रिय, अनुकूल प्रतिकूल, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान और लाभ-हानि आदि के विपरीत युग्मों में समत्व धारण करूं। *विणएं ठविज्ज अप्पाणं, इच्छन्तों हियमप्पणो*—अपने हित और कल्याण के लिए विनम्रता को बढ़ावा दूं। *वरं मे अप्पादंतो संज्जमेण तवेण य*—संयम-तप की साधना से अच्छा आत्मानुशासन सिद्ध करूं—ये विभिन्न गुण मेरे आत्मनिर्माण के मंगल-मंत्र हैं। आत्मा को विविध आभ्यंतर क्षमताओं और आत्मिक गुणों से संपन्न व समृद्ध करना ही आत्मनिर्माण है।

आत्मविकास

आत्मनिरीक्षण की चतुर्थ कड़ी है—आत्मविकास। पृथ्वी, पानी, पवन और सूर्य के ताप का संतुलित सहयोग व पोषण प्राप्त कर जैसे पौधा पल्लवित, पुष्पित, फलित बनकर विशाल रूप धारण करता है, वैसे ही सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का आधार पाकर आत्म-विकास की पांखें खुलती हैं। विकास की अवधारणा में अंतःस्फुरणा होती है : *कि सक्कणिज्जं न समायरामि*—ऐसा कौन-सा भव्य कार्य या विकास है जो शांति और शोधि का संवर्द्धक है, जिसे मैं कर सकता हूं, पर लापरवाही से नहीं कर रहा हूं। अब मुझे आत्मगुणों का पूर्ण विकास करना है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शांति, समता और अनासक्ति आदि आत्मिक गुणों को वृद्धिंगत करना ही आत्मविकास है। विकास पर आरुढ़ आत्मा—*आयतुले पयासुं*—प्राणीमात्र को अपने तुल्य समझने लगती है। कोई कटु-अनिष्ट और अप्रिय व्यवहार कर जाए तब भी आक्रोश एवं प्रतिशोध के निषेधात्मक भाव नहीं उभरते। अंतरालोक छिटकता है—*तितिक्खं परमंनच्चा*—तितिक्षा-सहिष्णुता ही मेरा परम धर्म है, मेरा स्वभाव है। *मिति मे सव्व भूएसु वैरं मज्झन केणई*—मेरी सब प्राणियों के साथ मैत्री है, किसी से वैर नहीं। यों आत्मभाव को विराट बनाकर, *अप्पा सो परमप्पा*—आत्मा ही परमात्मा है—की अनुभूति करती है। संयम, स्वाध्याय और ध्यान-साधना से कषायमुक्त एवं कर्ममुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध, जन्म-मृत्यु से मुक्त बन जाती है। यही आत्मा का पूर्ण विकास है। यही आत्मदर्शन और आत्ममुक्ति है।

आत्मनिरीक्षण का समय व विषय

आत्मनिरीक्षण की चेतना प्रतिक्षण ही जागृत रहनी चाहिए। एक क्षण का भी प्रमाद क्षम्य नहीं है। स्थिर-चित्त से सघनतापूर्वक अंतःवृत्तियों का एवं जीवन-प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण साधक के लिए नितांत अपेक्षित रहता है। जैनागम दसवैकालिक की दूसरी चूलिका में इसका बहुत व्यवस्थित निर्देशन है। आत्मनिरीक्षण का समय, निरीक्षक और निरीक्षण के बिंदु—तीनों को अच्छे ढंग से सुझाया है। समय का उल्लेख करते हुए सुझाव दिया है कि शयन से पूर्व और रात्रि के अंतिम प्रहर—सूर्योदय से एक घंटा पूर्व, जिसे ब्रह्म मुहूर्त कहते हैं, दोनों समय शांत वातावरण के हैं। ब्रह्म मुहूर्त तो ब्रह्म को आह्वान करने का श्रेष्ठ समय है। उस समय जागतिक हलचल, चंचलता और आपा-धापी शुरू नहीं होती। मन भी रात्रि-विश्राम के कारण तरोताजा, स्वस्थ, एकाग्र और निस्तरंग होता है। आत्मावलोकन व जीवन-उत्थान के लिए यह समय आत्म-साधकों और जीवन-शोधकों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

निरीक्षक का तात्पर्यार्थ व गूढ़ार्थ है—केवल आत्मा, तटस्थ भाव से आत्मा का निरीक्षण करें, कषाय-रंजित मनोवृत्तियों से नहीं।

जीवनचर्या की पारदर्शी परख जीवनशैली को एकदम नया मोड़ देकर सर्वहितकारी व सर्वोपयोगी, अध्यात्मनिष्ठ बना देती है।

चूलिका पद्य में तीन बिंदुओं पर समग्रता से निरीक्षण करने की सबल प्रेरणा है, जो पूरे जीवन का सुभग संचालन एवं अंतिम उद्देश्य का सिद्धि मंत्र समेटे हुए है।

प्रथम बिंदु में *किं मे कडं* के सूत्र में कुत्सित, निकृष्ट और अकरणीय कृत्य-कर्म से सर्वथा निवृत्त-मुक्त होने का स्फूर्त संकल्प है।

दूसरे बिंदु में *किंच मे किच्चसेसं* के सूत्र में युक्त, योग्य, श्रेष्ठ और उत्तम कर्तव्य को जी-जान से जुटकर निष्पन्न करने की प्रखर ध्वनि है।

तीसरे बिंदु में *किं सक्कणिज्जं न समायरामि* में सघन जागरूकता से प्रमत्तता का परित्याग कर अपने सामर्थ्य को उदग्र, उद्बुद्ध बनाकर ध्येयपूर्ति का ठोस आह्वान है। आत्मनिरीक्षण के तीनों बिंदु मिलकर आत्मविकास की बहुत सचेतन प्रक्रिया बन जाती है। ❖

कहानी

गलत होता पंचतंत्र

गाजी सैठ

'मुझे पढ़कर सुनाओ...मुझे यह बताओ...यह भी...यह भी...यह भी...' कहता-कहता वह 'इंद्रजाल कॉमिक्स' के सारे पन्ने पलट डालता और किसी एक स्थल पर रंगों के मायावी सम्मोहन से बंधा हुआ नई उत्तेजना से मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगता।

पीछे-पीछे चलते-दौड़ते रहने की उसकी क्रिया सतत थी। दोनों कमरों के बीच कुछ उठी हुई-सी असुविधाजनक दहलीज को पार करते वह अक्सर गिर भी पड़ता, पल-भर को रोने भी लगता, परंतु कॉमिक्स का मुग्ध सम्मोहन उसे फिर अपने संसार में ले आता।

दो क्षण निवृत्त होकर पल्ले से हाथ पोंछकर, माथे का पसीना सुखाती मैं अभी कुर्सी पर बैठी ही हूं। रंगीन तस्वीरों के अदम्य आकर्षण से प्रेरित, उनके अर्थ न जान पाने की उबाहट से परेशान वह फिर मेरे साथ आ लगा है। मचलता हुआ बोला, 'मुझे यह बताओ न मां! यह कौन है?' नकाबपोश आदमी के सिर पर उसने अपनी अंगुली गड़ा दी है।

उसकी उचित मांग है यह। संसार को अभी जानना-सीखना है उसे। साढ़े-तीन वर्ष का है। जो-कुछ भी उसे नहीं ज्ञात, उसे जान पाने का एकमात्र साधन है उस माध्यम तक पहुंचना, जिसका नाम है—मां, और जो सब उदारताओं का आगार कही जाती है। लोग कहते हैं, कष्ट सहकर भी, झेलकर भी वह देती है, देती रहती है।

●

किस तथाकथित महत्ता के प्रति विश्वास और मोह के कारण मैं नन्हे-नन्हे हाथों से निर्ममता से अपना आंचल छीन सकी हूं! किताबों की राह से दुनिया देख पाने की जिस हौंस से मैं स्वयं मुक्त नहीं हो सकी, उससे उसके मुक्त हो जाने की अपेक्षा रखती रही हूं! उसको फर्श पर एक ओर बिठाकर स्वयं किताब लिए बैठी रही हूं! वह एक अनिर्वचन दीनता और मोह से उस चित्र-संसार पर अंगुलियां फिराता रहा है। जूझा है, उलझा है, अपनी तरह का कोई अर्थ निकालकर किलका है, प्रसन्न हुआ है, परंतु मैं तटस्थ बनी अपने क्षणों को अपनी मानसिकता के अनुरूप सजाने में लगी रही!

●

रसोईघर से आने वाली गंदली-सी धुआंस स्टोव के बिगड़ने का आभास देती है। गैस हो तो वह सब झंझट...

मैं उठ खड़ी होती हूं। उसकी अंगुली अभी वहीं गड़ी है।

रसोईघर में आकर मैं उतावलेपन से स्टोव में पिन इधर-उधर डालती हूं। छिद्र पर एकाग्र नहीं कर पाती। धुएं से आंखें कड़ुवाने लगती हैं।

तंग आकर मैं स्टोव में से पूरी हवा निकाल देती हूं और स्प्रिट लेकर फिर जलाना शुरू करती हूं।

उधर कपड़ों का ढेर पड़ा है, इधर जूठे बर्तन। अभी खाना...प्रेस करना। हर कोने में दबाव देती कोई-न-कोई व्यस्तता। दोनों कदमों के बीच तनाव की कमान कसी रहती है हर समय।

यह सब करने में कोई रुचि हो ऐसा नहीं है। यह सब करके कुछ और करने की उतावली। निवृत्त होकर अपने अस्तित्व के साथ किसी सौंदर्यमुग्ध कल्पनालोक में खो जाने की छूट।

बर्तन-भांड़ों के कर्तव्य काटकर किसी किताबी दुनिया में झोली फैलाकर बैठ जाने का चाव और उस माध्यम से सारे संसार को समझ लेने की एक हौंस। न जाने कौन-सा सौंदर्यसिक्त प्रेरक क्षण होगा कि कल्पना के द्वार खुलेंगे!

वर्तमान को कभी न जीकर भविष्य के गर्भ में आंच गड़ी रहती है। अजीत

कहता रहता है, 'तुम्हारे लिए वर्तमान का कोई अर्थ नहीं, तुम भविष्य में ही जीती हो।'

भविष्य एक बड़ी संभावना है, अजीत नहीं समझता। वर्तमान है उसी संभावना को खोदते जाना जब तक अमृत-रस हाथ न लगे।

'इस अमृत-रस के लिए वर्तमान को घायल करते रहने की कोई सीमा भी है क्या?' उसकी आवाज की तिक्तता की अवहेलना करके मैं कहती हूं, 'नहीं! अमृत-रस असीम, अबाध है। पाने का यत्न भी अनंत होना चाहिए।'

अजीत के मुख पर एक काली-सी छाया दौड़ जाती है। वह जो कहने को होता है उसे पी जाता है।

स्टोव भक-से जल उठा है। मैंने सब्जी की कढ़ाई उस पर रख दी है। कढ़ाई रखते ही सुघड़ता से जलती लपट आधी हो गई है और धू-धू करने लग गई है। फिर से धुआं और धुआं, तेल की गंध से भरा।

खाना तो पकना ही है अजीत के लंच पर आने से पहले। मैं फिर से स्टोव साधने लगती हूं। अजीत से कई बार नौकर के लिए कहा है।

'अभी चल सकता है। और फिर दस-दस बालिश्त के इन दो कमरों में उसे रखोगी कहां?'

'पार्ट-टाइम तो रख सकते हैं, बर्तन-कपड़ों के लिए।'

'क्या इतना काम तुम्हें सच में भारी पड़ता है?' एक पीड़ित-सा प्रश्न अजीत की ओर से आता है।

'नहीं, यह बात नहीं...' वाक्य पूरा करने का कभी हौसला नहीं होता।

'तो फिर क्या बात है?' ऐसा कोई अपेक्षित प्रश्न अजीत आगे नहीं पूछता। पूछता तो शायद समझाया जा सकता। इस सहानुभूतिविहीनता में तो कुछ भी समझाया नहीं जा सकता।

मैं अजीत की कठिनाइयां समझती हूं। बाबूजी का पत्र अभी भी उसकी जेब में झलक रहा है। पत्रों का मुद्दा निबटा देने पर ही वह उसे फाड़ता है। रुपयों के तकाजे अभी उसकी जेब में संचित हैं।

स्टोव की लपट ने इस बार सधे रहने के आश्वासन से मुझे देखा है। मैं जल्दी से कढ़ाही उस पर रखकर चौकड़ी की तरफ चलने लगती हूं।

उसने मेरा पल्ला पकड़ रखा है। छुड़ाने या बहलाने का कोई प्रयत्न किए बिना चल पड़ने के कारण वह थोड़ा लड़खड़ा जाता है।

चौकड़ी पर बैठते ही एक तत्पर तेजी मेरे हाथों में आ जाती है। मैं जल्दी-जल्दी बर्तन मांजने लगती हूं। वह पीछे से आकर मेरी पीठ पर लद जाता है। उसके दाएं हाथ में पकड़ा हुआ कॉमिक बार-बार मेरी आंखें ढक देता है। इस अवरोध से मैं झुंझलाती हूं उससे कहती हूं, 'सोनू हट! काम करने दे।'

'नहीं, काम छोड़ दो। पहले मुझे पढ़कर सुनाओ!' वह मेरी पीठ से उतरकर पीछे से मेरा पल्ला खींचने लगता है।

पतली-सी पत्थर की रौंस जो चौकड़ी के बाहर लगी है, उस पर मेरे पैर टिके हैं। उसके पल्ला खींचने से मेरा संतुलन बार-बार गड़बड़ा जाता है, और बंधे समय पर आने वाला पानी भी उस समय पूरे आवेग से अपने आने-जाने का बोझ दिमाग पर डालता है।

'छोड़ न!' मेरे हाथ और तेजी से चलने लगते हैं।

वह थोड़ा खिसिया जाता है। एक कमजोर-सी रुलाहट में फिर वही दोहराता है, 'नहीं, पहले इसे पढ़ो! मुझे बताओ!'

मैं कहती हूं 'अपने-आप देखो! उस सीढ़ी पर बैठकर।'

'नहीं, नहीं। तुम बताओ। पहले यहां आओ।'

'नहीं, अभी नहीं आ सकती। तू जा, चुप करके सो!' कहकर मैं उसे अपनी कोहनी से धकिया देती हूं।

वह गिर पड़ता है और जोर-जोर से चीखना शुरू कर देता है। मैं पीछे मुड़कर देखती हूं। उसे चोट नहीं लगी, फिर भी शायद इस निरंतर अवहेलना से वह खिसिया गया है। मैं बिना उठे उससे जोर से कहती हूं, 'चुप रह!'

उसने दुगने जोर से चीखना शुरू कर दिया है। मैं राख-सने हाथ धोकर उठती हूं।

'चुप रहता है या नहीं?' चटाख-से एक चपत मैंने उसके मुंह पर जड़ दिया है। यह समझते हुए भी कि हाथ उठाने वाली खीझ का कारण कहीं और है।

वह रोते-रोते कहता है, 'मां, तू गंदी है, गंदी है।'

एक नृशंस मौन में घुलती मैं उसके सामने बैठी उसे देखती जा रही हूं।

वह और जोर से चीखता है, 'मां तू गंदी है, गंदी है, गंदी है।'

'हां। मैं गंदी हूं।' कहकर मैं अपनी साड़ी का पल्ला एक सन्नद्ध-सी मुद्रा में कमर में खोंसकर दूसरे कमरे में जाने लगती हूं।

मुझे जाते देख न जाने क्यों वह और जोर से अपने पांव पटकने लगता है और चिल्लाता है।

आगे बढ़ती मैं पीछे मुड़कर देखती हूं—गालों पर अविरल बहती आंसुओं की गीली लंबी लकीरें, फाड़ा हुआ मुख—जो अभी भी पूरी तरह दांतों से भर नहीं पाया—फटा हुआ कॉमिक कसकर छाती से लगाया हुआ।

हिमखंड में दुबका करुणा का नन्हा-सा कण मेरे स्नायु-केंद्र पर वत्सल एहसास की महीन-सी सुई चुभो देता है। मेरे भीतर का आवेग एकाएक थम जाता है। मैं एकदम लौट पड़ती हूं। दोनों हाथ उसकी ओर बढ़ा देती हूं, 'चल, दूध पीएगा?...सोएगा?'

वह एकदम मेरी बांहों में झूल जाता है और मेरे गले में बांहें डाल देता है। पूरे वक्ष को घेरता एक संपूर्ण कोमल-सा स्पर्श मेरे दारुण तनाव को सेंध लगाने लगता है।

मेरा हाथ उसकी पीठ पर विवश दौड़ने लगता है। वह अभी भी रुक-रुककर सिसकियां भर रहा है। सारे कमरे में उसे लेकर डोलते मेरी आंख घड़ी पर जाती है। ओह! वह भूखा भी है, निंदासा भी। इतनी दोपहर कैसे चढ़ आई!

चाहती हूं, उसे गोद से उतारकर दूध गरम करूं, परंतु किसी दूसरे स्तर पर करुणा इतनी आंदोलित हो गई है कि अपने से लगे उसके कोमल स्पर्श को विलगा देने की इच्छा नहीं होती। आराम पाकर वह भी कुछ श्रांत-सा हो गया है। मेरा स्पर्श और सघन हो गया है। वह और दुबक गया है। मैं और द्रवित हो गई हूं। उसकी नन्ही-नन्ही सांसें सिसकियों की आहट से आगे बढ़कर क्रमबद्ध हो रही हैं। वह सो चला है, मेरे भीतर सब-कुछ अस्त-व्यस्त छोड़कर।

शायद थक जाने के कारण वह गहरी निद्रा में सो गया है, भूखा है तब भी, प्यासा है तब भी, बिना नहाए, बिना मालिश किए। मैं उसे धीरे-से पलंग पर लिटाती हूं। मेरी साड़ी का पल्ला उसकी मुट्ठी में भिंचा है, और वह शांत सो रहा है। चेहरे पर आंसुओं के सूखे हुए दाग हैं और गाल फटकर लाल-लाल हो गए हैं। बहुत गोरे-से मुख पर भोली-सी शांति दुबकी बैठी है।

उस नन्ही-सी मुट्ठी में बंधे पल्ले के साथ मेरे मन का कोई कोना अचानक अटक गया है। वह सो रहा है, तब भी मैं उसे आसानी से छुड़ा नहीं पाती। उसकी ओर से जब उसे पकड़े रहने का कोई आग्रह नहीं तभी यह काम मुझे कठिन जान पड़ता है। जब वह मेरे पीछे-पीछे घूमता और मेरे पल्ले को पूरी शक्ति से खींचता रहता है, तो कितना आसान होता है उसे झटक देना!

कोई आवेग मुझे दूर तक छू लेता है और मैं धीरे, बहुत ही धीरे उसके माथे को अपने होंठों से छू लेती हूं और उसकी नन्ही-नन्ही अंगुलियां खोलकर अपने को स्वतंत्र करती हूं।

परंतु उस दिन, और उसके आगे के भी कई दिन उस स्वतंत्रता का सुख महसूस नहीं होने पाता। कहां से छू दी गई हूं कि मेरी किताबें और उसके 'इंद्रजाल कामिक्स' किसी कोने में उपेक्षित पड़े रहते हैं। मैं सिर्फ उसके साथ खेलती हूं। वह जैसे मेरे पीछे-पीछे भागता था, मैं उसके पीछे-पीछे भागती रहती हूं।

उसे भी तो याद नहीं आती अपने कॉमिक्स की।

यह क्रम जल्दी ही चुक जाता है। धीरे-धीरे फिर अपनी याद आ जाती है। फिर याद आ जाते हैं मेरा स्वत्व मांगते स्वप्न। फिर याद आता है—मेरा अपना होना, कुछ होना, कुछ करना, मेरा अपना अस्तित्व। फिर भीतर-बाहर में आंख-मिचौनी होने लगती है। फिर भीतर कुछ कठोर होने लगता है, फिर उसकी आवाजें प्रभावहीन होने लगती हैं। फिर मुग्ध सम्मोहन में तस्वीरों पर फैले उनके नन्हे-नन्हे हाथ एक नामुराद चुनौती पैदा करने लगते हैं। फिर, फिर वही याद आने लगता है कि तू अनचाहे आगमन की मजबूरी है, जिसे मेरा कोई हिस्सा नहीं दिया जा सकता।

शायद दो महीने चढ़ गए थे। लेडी डॉक्टर के यहां से लौटते मैं एकदम चुप घर आई थी। आकर रोटी सेंकी। सब्जी कढ़ाई में बनी रखी थी। अजीत की थाली में परोसी तो उसने टोका था, 'क्या आज ठंडी खानी पड़ेगी?'

सुनकर झेंप-सी हुई। कठिनाई से कुछ ग्रास निगले थे। अजीत ने पूछा तो टाल दिया कि पेट में दर्द है। उसी रात, मैंने अपनी छोटी-छोटी मुट्ठियों को उसके सीने पर लगातार मारते हुए कहा, 'यह तुमने क्या किया अजीत? मैंने कहा था तुमसे—'आई डोंट वांट इट। मुझे अभी कितना-कुछ करना है!'

'पर जीना भी तो है माई डियर!' एकदम सहज भाव से बोला, 'दिस इज नेचुरल। हैपंस विद ऐवरीवन।'

'आई एम नॉट ऐवरीवन।' वह मेरी आवाज की तेजी से चौंका था। फिर अपनी पकड़ को ढीलते हुए मेरी पीठ थपथपाकर बोला, 'रिलेक्स एंड स्लीप वेल!'

वह मुक्त था, सो गया था, मैं...

सुबह उठते ही मैंने कुसुम को एक लंबा-सा पत्र लिख मारा था। कुसुम और मैं विद्यार्थीकाल से ही बहुत-से सपने समांतर धरातल पर जीते रहे थे। उसे चित्रकारी का शौक था। कहती थी, 'बात जब बहुत सूक्ष्म हो तो कलम पकड़ नहीं पाती, उसे तूली ही पकड़ सकती है।' यह तर्क मेरी समझ में न आता था। शायद इसलिए कि तूली को मैं अपनी मर्यादा समझती थी और कलम को शक्ति। हम दोनों ने अपने-अपने माध्यम तलाश करने की साझी दौड़ में एक रागात्मक संबंध स्थापित कर लिया था।

मेरे पत्र का उसने जल्दी ही उत्तर दे दिया था। ठीक मेरी आशा के विपरीत। बच्चे के आगमन के समाचार पर प्रसन्नता और मेरे प्रति कोई सहानुभूति नहीं। एक सीधा-सपाट, मुंह बंद कर देने वाला कथन, 'तुम जहां खड़ी हो, कब तक वहीं खड़ी रहोगी और आगे चलने से इनकार करती रहोगी! तुम इस स्थिति से पीड़ित हो, क्योंकि तुम्हारे मन में बच्चे के आगमन के प्रति एक सहज भावात्मक स्वीकार उत्पन्न नहीं हो पाया। यह तुम्हारी सरासर अपरिपक्वता है।'

मैंने बाद तक भी कुसुम को कोई पत्र नहीं लिखा— वह भी मुझे समझने से इनकार करती है! अजीत करता है, और यह छोटा-सा नन्हा-सा सोनू, यह भी एक मेरे जैसे हिमालय पर अपनी नन्ही क्षमता से बार-बार वार करता है। मैं दांत-पीस लेती हूं।

मेरे स्नेहिल सहलाने वाले हाथों और उसके पीछे उमंग से दौड़ते कदमों से चलकर दांत पीसने तक आने की यात्रा को वह समझ नहीं पाता। यह रूपांतर कब, क्यों और कैसे हो जाता है, उसे नहीं मालूम। आदत से बंधा मेरे सतत रूप से व्यस्त क्षणों को वह फिर उसी मांग से घेर देता है, 'मां! यह क्या लिखा है?...यह क्या कह रहा है?' उसकी नन्ही-नन्ही हथेलियां पृष्ठों के पूरे विस्तार को ढकने का प्रयत्न करती हैं। इस मायाजाल के अर्थ को वह पूरे का पूरा अपने अंदर भर लेना चाहता है। जो संसार उसके समक्ष नया उघड़ा है, उसे वह मेरे कंधे पर चढ़कर देख लेना चाहता है।

किसी अनुभवी ने कहा था कि यह सारा पंचतंत्र एक माध्यम है, अर्थों को संज्ञाएं देने का, दैत्यों में अशुभ और देवों में शुभ की धारणा को विकसित करने का।

पर मैं हूं कि मैंने उसे जीवन के सब अर्थ गलत बता दिए हैं। उसके नवमुकुलित बोध के सारे संदर्भ गलत जोड़ दिए हैं। उसे बड़ी जल्दी समझा दिया है कि वह अकेला है, और जीवन के सारे अर्थ उसे इस रंगीन पृष्ठ पर चित्रित मायाजाल की तरह स्वयं जूझकर ढूंढने हैं।

स्वयं ढूंढना एक बहुत बड़ा गुण है और आत्मनिर्भरता एक बड़ा मूल्य, परंतु जो-कुछ मेरे बताने और उसके जानने की उमंग के माध्यम से जुड़ा हुआ सांझा हो सकता था, वह अछूता रह गया।

वह समय क्या कभी लौटकर आएगा? क्या कभी उस भोले-भाले निरीह मुख पर अर्थों को जानकर वैसी ही अछूती चमक दौड़ेगी और वह उस निर्भरता द्वारा मेरे भीतर के किसी रागात्मक तंतु से जुड़ेगा?

जीवन अपनी झोली फैलाए उस मीठी तोतली आवाज और आंखों में निश्छल कुंआरी चमक लिए सौंदर्य बिखेरने को तत्पर खड़ा रहा। मेरा बधिर मन उन क्षणों को खोजने में व्यस्त रहा जो सौंदर्य की रचना कर सकें।

अर्थों की सारी ऊहापोह अब बासी हो गई। अछूते अबोध सौंदर्य पर अनुभव की आवृत्तियों की परतें चढ़ चुकीं। उसके नन्हे-नन्हे हाथ कैशोर्य कोमलता को पार करते-करते एक युवक स्फुरण से रोमांचित होने लगे हैं। जो-कुछ उसके भीतर है, अपनी गति और उत्साह में बाहर की हर संज्ञा से आगे निकल जाना चाहता है।

रैकेट को पूरी तेजी से हाथ में घुमाते घर में घुसते ही, वह फर्श पर जो भी दिखता है उसे अपने पैर से उछाल देता है। उसकी पिंडलियों और मजबूत बांहों पर पेशियों की मछलियां देर तक ऐंठी हुई दिखती रहती हैं। एक अपेक्षाविहीन स्वतंत्रता से वह घर में इधर-से-उधर डोलता है।

अपने पापा के जूते में पैर अटाकर फिट होते देख उसके मुख पर एक आकर्षक स्मित खेल जाता है। वह फीते बांधता मन-ही-मन हर्षित होता है, परंतु बांटने की जहमत नहीं उठाता।

मैं ही कहती हूं, 'मजा आ गया सोनू! अब तो तुझे पापा के जूते भी आ जाते हैं, खूब बदल-बदलकर पहन पाएगा।'

उत्तर देना उसे आवश्यक नहीं लगता। एकदम तैनात, वह उठ खड़ा होता है, 'अच्छा मां! चलता हूं। तुम और पापा खाना खा लेना, मुझे देर हो जाएगी।'

'क्यों, कहीं जाना है क्या?'

'परसों बताया था न कि पिकनिक जाएगी कॉलेज की तरफ से।'

'परसों! कब बताया था? पैसे वगैरह भी जमा नहीं किए!'

'कब से कर दिए। पापा से कह दिया था।'

'और तुम्हारा किट?'

'वह अजय ले आएगा।'

'क्यों? घर से तैयार हो जाएगा।'

'चलेगा मां!' कहकर वह तेज़ी से बाहर निकल जाता है।

किट जैसी व्यक्तिगत चीज को घर से ले जाने का उसके मन में कोई अतिरिक्त आग्रह नहीं। घर को लेकर किसी प्रकार के अतिरिक्त से वह ग्रस्त नहीं। अक्सर अकारण दो-दो दिन लगातार वह अजय के पास होस्टल में ही सो जाता है। सांझ ढले तो पक्षियों को भी नीड़ की आकांक्षा घर लौटा लाती है। आत्मनिर्भरता में वह अक्सर अनात्मीयता की सीमा को छूने लगता है।

अब? अब शायद उसके आत्मनिर्भर होने का समय है। आज इस पीड़ा-बोध के जागने पर निर्भरता का वास्ता देना गलत संदर्भों के इतिहास की पुनरावृत्ति करना होगा।

क्या था, जिसने इन सांझे क्षणों की अनुभूति के सुख से उसे और मुझे वंचित रखा है? जीवन के प्रति एक सहज स्वीकृति का अभाव?...या मेरा अपनी जीवन-व्यवस्था के प्रति कभी न चूकने वाला क्षोभ? मुझे सदा लगता रहा कि मुझे अपने सपनों के अनुकूल बढ़ना है। सौंदर्य-संदर्भों को कैद करके उनकी रचना करना है। खा-पीकर सो जाने वाले सतही जीवन की व्यस्तता के हाथों लुट नहीं जाना है।

किस तथाकथित महत्ता के प्रति विश्वास और मोह के कारण मैं नन्हे-नन्हे हाथों से निर्ममता से अपना आंचल छीन सकी हूं! किताबों की राह से दुनिया देख पाने की जिस हौंस से मैं स्वयं मुक्त नहीं हो सकी, उससे उसके मुक्त हो जाने की अपेक्षा रखती रही हूं! उसको फर्श पर एक ओर बिठाकर स्वयं किताब लिए बैठी रही हूं! वह एक अनिर्वचन दीनता और मोह से उस चित्र-संसार पर अंगुलियां फिराता रहा है। जूझा है, उलझा है, अपनी तरह का कोई अर्थ निकालकर किलका है, प्रसन्न हुआ है, परंतु मैं तटस्थ बनी अपने क्षणों को अपनी मानसिकता के अनुरूप सजाने में लगी रही!

जो क्षण रंग-बिरंगी तस्वीरों को जीवन के अर्थों के चौखटे में जड़ते बीत सकते थे और अकाट्य निकटता का बोध दे सकते थे, वे यों ही चुक गए।

मैंने उन सब क्षणों को, अवसरों को दरवाजे से ही लौटा दिया, जो जीवन और जीवन के सौंदर्य को देखने और रचने के माध्यम थे।

अतः मेरी कोई भी रचना नहीं हुई। मेरे मन में किसी सौंदर्यसूत्र ने जन्म नहीं लिया। मेरा अव्यक्त क्षोभ हमेशा दूसरों के कंधों पर सिर पीटता रहा और कभी नहीं समझ पाया कि वे सब अमूर्त सपने—जिनमें रचना बन सकने की अंतर्भूत सामर्थ्य नहीं होती—ताप से पास पड़े हिमखंड की तरह पिघलकर बह जाते हैं, उनका कोई नाम या आकार नहीं होता। रचना केवल जीवन के हाथों होती है, जीवन से बचकर नहीं।

वह दिन-प्रतिदिन आत्मनिर्भर होता गया। निर्भरता की विवशता और मर्यादा से उबर पाना उसके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट अंग बन गया। अच्छे-बुरे के बोध का कोई पैमाना मेरे पास नहीं, जिससे मैं उसके विकास को परख सकूं। परंतु जब उसकी एकदम मुक्त, लाग-लपेटरहित स्वतंत्रता को लक्ष्य किया तो मुझे कष्ट हुआ।

मैं दूर-दर तक अतीत को कुरेदने में जुट गई।

मूल में वही अर्थ टटोलती नन्ही-नन्ही अंगुलियां, पीछे-पीछे दौड़ते, गिरते-पड़ते, हारने से इनकार करते छोटे-छोटे पैर, निरीह भोलापन और अबोध आंखों में अदम्य जिज्ञासा की जगती-बुझती अछूती चमक।

अर्थों का संसार उसने अपने-आप रच लिया है, जिसमें मेरा कोई योगदान नहीं। जहां ऐसा कोई पुल नहीं, जिस पर वह मेरी बांह पकड़कर चढ़ा हो और जिसकी स्मृति उसके अंतर्मन में कहीं चिपकी पड़ी हो।

वह ऊंची उठान से भरा, जीवन की छाती पर दौड़ता एक आत्मनिर्भर कदम है, मैं उसकी तिरछी छांह में अपनी सपनीली रचनाओं को ढूंढती एक अपरिचित छाया हूं, जिसे अभी भी जीवन से सामंजस्य साधना शेष है।

जब शक्ति चुक गई। पहचान खो गई। माध्यम खो गए।

सब-कुछ तभी संभव था, अब कुछ संभव नहीं। तब कहीं कुछ रचने का स्वप्न था। अब स्वप्न भी नहीं, रचना भी नहीं। इधर कुछ सालों से अजीत भी नहीं।

शेष पृष्ठ 56 पर

नरेश मेहता की कविताएं

•

समय का भिक्षु

द्वार पर भिक्षुक पुकारा एक—
'आज है एकादशी मां! कुछ मिले'—की टेक।
किस अनामा भूमि का यह भिक्षुजन?
कौन कुल?
किस ग्राम का?
किस पीर ने व्यक्ति
वैतालिक बनाया?
नित सकारे,
सभी द्वारे,
तिथि उचारे,
नित नया दिन खोल जाता क्षिति किनारे...

'ओ पांडुखौरी! सर्वसमभावी! पात्र फैलाओ—
तुम्हारे तिथिपात्र का ही देय था
यह आयुफल—
ओ समय के भिक्षु!
कल फिर डाकना तिथि द्वादशी!!'

•

पुनः भिक्षु

'द्वारे एक भिक्षुक बोले मां!
दान देबो, आज के प्रदोष आछे—'
'सत्कारो बेटी! अन्न दे भिक्षुक के—'
'ना मां! अन्नप्रियी नेही वो—'
'मुद्रा संग श्रीफल दे तुष्ट करो—'
'ना मां! वह वीतरागि स्वीकारे यह भी ना—'
'तो वह इस ड्यौढ़ी से क्या चाहे बोले?'
'क्या जाने, ऐसे ही बोला वह—
अपने को वर दे, श्रेष्ठ! तू अपने को वर दे—'
'पामर को देखूं तो भिक्षु बड़ा...'

द्वार का भिक्षुक था चला गया—
कंचन से कुंतल उस मोड़ झलमला गए—
'बेटी! वह यौवन था वरने को आया—'

यौवन भी भिक्षुक है—
तिथि-सा जो आता है, वरने को—
अपने को दोगे?
देता है कठिन!!

•

ओ तपः पार!

प्रभु! मैं किसे मांगूं?
तुम्हें?
या तुम्हारे दुख को?

कहते हैं
व्यक्ति से बड़ा होता है उसका दुख
क्या तुमसे भी बड़ी है
तुम्हारी यह सृष्टि?

जिसमें मैं हूं—
मुझ जैसे अनेक नगण्य हैं।
क्या हम दुख ही रहे?
रहेंगे
तुम्हारे प्रभु?

तब क्या तुमसे भी—
अपने को?
इस अपात्रता को?
दुख को ही मांगना होगा?
इसे ही प्राप्त करने के लिए
तप करना होता है?
ओ तपः पार!
तब तुम्हारे लिए क्या करना होता है?

❖❖

शीलन

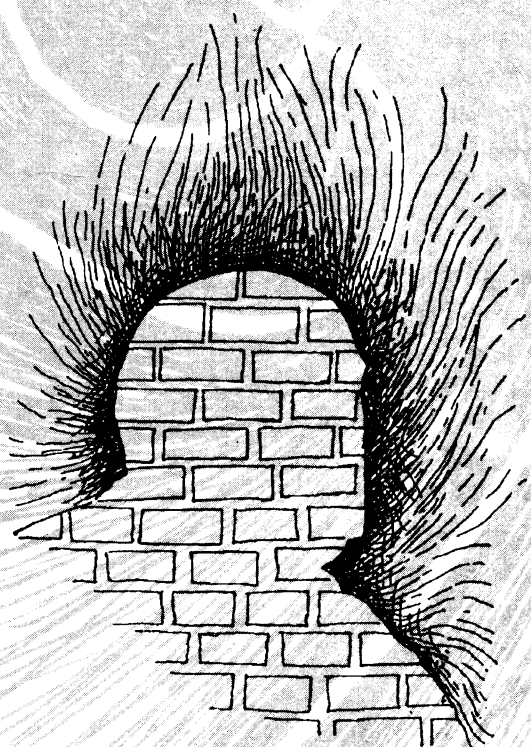

मनुष्य को अपना परम लक्ष्य प्राप्त करने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। बंधन में बंधा हुआ मनुष्य चल नहीं सकता। आज का मनुष्य तरह-तरह के परंपरा-प्राप्त उत्तराधिकारों से बंधा हुआ तो है ही, इन बंधनों के ऊपर हम अपनी पसंद के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक नियमों के और ऐसे अन्य बंधन डालकर उसे और भी अधिक बांध देते हैं और फिर उसे 'सच्चा इंसान' बनाने के लिए शिक्षा का प्रबंध करके मुस्कराते हैं। ऐसा करके हम उसे स्वत्व से, स्वदेश से, स्वानुभव से बहुत दूर ले गए होते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप स्वयं को तथा संसार को समझने के लिए व्यर्थ भटकता 'आज का मनुष्य' हमारे सामने मौजूद है। मनुष्य को उच्च कोटि की मानवता प्राप्त करने के लिए स्वभावानुसार स्वयं-विकास की राह पकड़नी चाहिए—यही एकमात्र रास्ता है। इसके लिए मनुष्य को स्वतंत्र होना चाहिए।

—गिजुभाई

जीवन निर्माण का सोपान : दसवैकालिक सूत्र

साध्वी कांतयशा

भगवान महावीर की वाणी से निसृत शब्द एवं गणधरों द्वारा गुंफित शास्त्रों को आगम कहते हैं। काल-प्रभाव और स्मृति-लोप की वजह से साहित्य-राशि विलुप्ति के गर्त में जा रही थी, इसलिए चिंतन, मंथन एवं निदिध्यासन के पश्चात् जिनवाणी को लिपिबद्ध करने का संकल्प जगा। कार्य की गतिशीलता एवं संकल्प की दृढ़ता ने साहित्योद्धार का महान कार्य निष्पन्न किया। आज जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण की वाचना के हैं।

आगमों की संख्या के बारे में काफी मतभेद रहा। श्वेतांबर मान्यतानुसार आगमों की संख्या 32 मानी गई है। दसवैकालिक श्वेतांबर और दिगंबर—दोनों परंपराओं में मान्य शास्त्र है। श्वेतांबरों ने इसका समावेश 'उत्कालिक' सूत्र के रूप में किया है। श्रुतकेवली आचार्य शय्यंभव द्वारा विभिन्न पूर्वों से निर्यूहण कर अपने प्रिय पुत्र-शिष्य मनक के अल्पायुष्य को जानकर अल्प समय में श्रुतसागर में अवगाहन करवाने की दिलासा से इस ग्रंथ की 'निर्यूहणकृति' के रूप में रचना की।

दसवैकालिक आजकल अत्यधिक प्रचलित आगम है। प्राचीनकाल में दीक्षित साधु को सर्वप्रथम आचारांग का अध्ययन करवाया जाता रहा है। साधु को आचार का ज्ञान करवाने का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ आचारांग था। लेकिन दसवैकालिक की रचना के पश्चात् श्रुत के अध्ययन का क्रम परिवर्तित हो गया। आचारांग का स्थान इसने ले लिया।

●

हिंसात्मक भावनाओं का प्रादुर्भाव होने से व्यक्ति अधार्मिक कार्य करने में तत्पर हो जाता है। उस समय व्यक्ति की विवेक-चेतना लुप्त हो जाती है। आत्मचक्षु तिरोहित हो जाता है। मोहनीय कर्मावरण की वजह से व्यक्ति अनजाने में ही नहीं, बल्कि समझते हुए भी अधार्मिक कार्यों में आनंदानुभूति करता है और अपने चित्त को अपराधी कार्यों में नियोजित रखता है। पापभीरुता उस व्यक्ति से कोसों दूर चली जाती है और ऐसी स्थिति में व्यक्ति घोर कर्मों का उपार्जन कर लेता है। पर आत्मगवेषी व्यक्ति के सामने यह सूक्त दर्पण की भांति स्पष्ट प्रतिबिंबित होता है कि मुझे अधार्मिक कार्य करना ही नहीं है, अगर एक बार हो भी गया तो दूसरी बार तो वैसा आचरण किसी हालत में नहीं करना है। प्रमाद से हुए अपराध की आलोचना करने वाले और भविष्य में कल्पनाओं का अंबार लगाने वाले व्यक्ति को इस सूत्र 'बीयं तं न समायरे' को जीवन में चरितार्थ करना ही होगा। तभी व्यक्ति इच्छित लाभ पा सकेगा।

●

प्राचीनकाल में आचारांग के 'शास्त्र परीज्ञा' अध्ययन को अर्थतः जाने-पढ़े बिना साधु को महाव्रतों की विस्तृत व्याख्या समझाई नहीं जा सकती थी, किंतु दसवैकालिक के षड्जीवनिकाय में महाव्रतों का विस्तार से विवेचन मिलता है। अतः दसवैकालिक का आज अत्यधिक महत्त्व है। इस सूत्र में दस अध्ययन हैं, पांचवें अध्ययन के दो उद्देशक एवं नौवें अध्ययन के चार उद्देशक एवं दो चूलिकाएं हैं।

इस सूत्र में जीवन-निर्माण के अनेक सूक्त दिए हैं जिन्हें अंगीकार कर व्यक्ति, व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सकता है। जैसे—

बीयं तं न समायरे

व्यक्ति गलतियों का पुतला है। जाने-अनजाने में उससे त्रुटियां हो जाती हैं। हिंसात्मक भावनाओं का प्रादुर्भाव होने से व्यक्ति अधार्मिक कार्य करने में तत्पर हो जाता है। उस समय व्यक्ति की विवेक-चेतना लुप्त हो जाती है। आत्मचक्षु तिरोहित हो जाता है। मोहनीय कर्मावरण की वजह से व्यक्ति अनजाने में ही नहीं, बल्कि समझते हुए भी अधार्मिक कार्यों में आनंदानुभूति करता है और अपने चित्त को अपराधी कार्यों में नियोजित रखता है। पापभीरुता उस व्यक्ति से कोसों दूर चली जाती है और ऐसी स्थिति में व्यक्ति घोर कर्मों का उपार्जन कर लेता है। पर आत्मगवेषी व्यक्ति के सामने यह सूक्त दर्पण की भांति स्पष्ट प्रतिबिंबित होता है कि मुझे अधार्मिक कार्य करना ही नहीं है, अगर एक बार हो भी गया तो दूसरी बार

तो वैसा आचरण किसी हालत में नहीं करना है। प्रमाद से हुए अपराध की आलोचना करने वाले और भविष्य में कल्पनाओं का अंबार लगाने वाले व्यक्ति को इस सूत्र 'बीयं तं न समायरे' को जीवन में चरितार्थ करना ही होगा। तभी व्यक्ति इच्छित लाभ पा सकेगा।

न सामहं नो वि अहं पिती से

संयम में रमण करने वाला मुनि कदाचित असद् कर्मोदय से संयम को छोड़कर असंयमय जीवन जीने का चिंतन करता है तो उस समय यह सूक्त उसे अनासक्ति का बोधपाठ प्रदान करता है कि वह मेरा नहीं है और मैं उसका नहीं हूं। कभी-कभी कर्मोदय से ही नहीं, बल्कि कौतूहलवश या यौवनावस्था के समय व्यक्ति का मन चलित हो जाता है, चित्त चंचल और व्यग्र बन जाता है, उस समय यह सूक्त व्यक्ति के स्मृति-पटलों को झकझोरता है और उसे संयम में स्थिर होने की प्रबल प्रेरणा देता है; अनासक्ति की भावना का प्रादुर्भाव करता है, चिंतन के वातायनों की बंदनावार सजाता है; पुनश्च चिंतन के लिए प्रतिबोधित करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अकरणीय कार्य करने के लिए उद्यत होने पर भी चलायमान नहीं हो सकता। जीवन निर्माण का स्वर्णिम दीप पुनः प्रज्वलित हो जाता लगता है।

निछं च न बहुमन्नेज्जा

साधना करने वाला व्यक्ति अपना अधिकांश समय साधना में ही व्यतीत करता है। अप्रमतता का जीवन ही उसे अपनी लक्षित मंजिल पर पहुंचा सकता है। हर क्षण सार्थकता की तस्वीर निहारने वाला व्यक्ति निद्रा को बहुमान नहीं दे सकता। उसका चिंतन जागरूक प्रहरी की भांति 'समयं गोयम! मा पमायए' में ही तल्लीन रहता है। निद्रा के समय श्वास की गति बढ़ जाती है। अतः स्वास्थ्यवेत्ताओं ने हर स्वस्थ मानव के लिए 5-6 घंटे नींद का प्रावधान किया है। ज्यादा सोना अस्वस्थता को निमंत्रण देना है। आज का युग विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक युग में 'आराम' फैशन बन गया। 'आराम है हराम'—वाली उक्ति को आज भुला दिया गया है। बार-बार सोना, दिन-भर सोए रहना प्रमाद तो है ही, साथ ही बीमारियों का भी घर है। प्रमाद से कर्मों का सघन बंधन होता है जो साधक की साधना में बाधक है। साधक को साधना के लिए संतुलित जीवन-शैली की अपेक्षा होती है। संतुलित जीवन-शैली के लिए एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारने के लिए अपेक्षित है—विश्राम। जिसे प्रेक्षाध्यान का साधक कायोत्सर्ग के द्वारा अच्छी तरह से पूरा कर सकता है। अतः जीवन-निर्माण के लिए अपेक्षित है कि मानव निद्रा को बहुमान न दे। लेकिन अनिद्रा की बीमारी को भी आमंत्रण न दे। जिन्हें अनिद्रा के रोग का शिकार बनना पड़ गया है, वे व्यक्ति आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा प्रदत्त प्रेक्षाध्यान का अवश्यमेव आलंबन लें।

सज्झायम्मि रओ सया

आत्मा के विषय में जानना, विचार करना एवं मनन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय तत्त्वदर्शन का मूल है एवं आत्मदर्शन का प्रदीप है। अशांत मन को समाधान देने की प्रक्रिया स्वाध्याय है। पातंजल योगदर्शन में लिखा है कि—'स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः'—स्वाध्याय से देवताओं का साक्षात्कार होता है। स्वाध्याय वह दर्पण है जिससे अपने रूप को देखकर निखारने एवं संवारने की व्यवस्था की जाती है। स्वाध्याय वह कुंजी है जो अंतश्चक्षु को उदघाटित करती है। पश्चिमी विचारक फ्रांसिस बेकन के अनुसार अध्ययन आनंद प्रदान करता है।

भारतीय साधना-पद्धति में समाधि के अनेक हेतुओं में एक है—स्वाध्याय। उपनिषद् में लिखा है कि अरणि स्थित आग घर्षण के बिना प्रकट नहीं होती। वैसे ही स्वाध्याय के बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता। गीता में स्वाध्याय को महायज्ञ कहा है। जैन दार्शनिक स्वाध्याय को दुख-मुक्ति का उपाय मानते हैं। निर्जरा के 12 भेदों में भी स्वाध्याय का महत्त्व स्पष्ट है। 'ठाणं' में लिखा है कि स्वाध्याय के बिना ध्यान व तपस्या नहीं हो सकते। आचार्य विद्यानंदि ने पांच प्रकार के स्वाध्याय का वर्णन किया है—(1) श्रवण, (2) ग्रहण, (3) धारण, (4) निर्धारण, (5) परिणमन।

स्वाध्याय का प्रयोजन हेय का त्याग, उपादेय का ग्रहण एवं सभी पदार्थों में उपेक्षा बुद्धि है। स्वाध्यायशील व्यक्ति उपलब्धियों के अंबार लगा लेता है।

स्वाध्याय के परिणाम हैं—(1) प्रज्ञा का जागरण, (2) उत्कृष्ट संवेग का उदय, (3) प्रवचन की अविच्छिन्नता, (4) अतिचार-विशुद्धि, (5) संदेह का निराकरण, (6) मिथ्यावादियों के भय का अभाव, और (7) एकाग्रता का विकास।

स्वाध्यायशील व्यक्ति का मन संकल्पों, विकल्पों में उलझता नहीं है। अतः मानव को अपने जीवन का निर्माण करना है तो उसे स्वाध्याय में सदा तल्लीन रहना चाहिए। स्वाध्यायी व्यक्ति सहज ही मितभाषी हो जाता है और उसका कहा वचन 'सिद्धवाक्य' बन जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दसवैकालिक सूत्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसके एक-एक सूक्त को अंगीकार कर व्यक्ति जीवन-निर्माण के सोपानों पर चढ़कर लक्षित मंजिल प्राप्त कर सकता है। ❖

पूत के पांव पालने में

साध्वी विश्रुतविभा

भविष्य के गर्भ में जो है, वह एक साथ वर्तमान में नहीं आता। उसके अपने नियम हैं और उन्हीं के अनुसार वह व्यक्त होता है। कुछ घटनाएं आकस्मिक घटित हो जाती हैं और कुछ घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है। राजस्थान में एक कहावत प्रचलित है—पूत के पांव पालने में ही पहचान लिए जाते हैं। भविष्य में होने वाली घटनाएं पहले ही अपना प्रतिबिंब दिखा देती हैं। तेरापंथ के प्रायः सभी आचार्यों के साथ यह कहावत अक्षरशः घटित हो रही है। उनकी महानता की सूचना उनके आचार्य बनने के पश्चात् नहीं, अपितु मुनि-अवस्था अथवा गृहस्थ-काल से ही मिल जाती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तो लिखा ही है—'अज्ञात के महासागर में ज्ञात एक छोटा-सा टापू है।' जैसे-जैसे अज्ञात ज्ञात बनता जाता है, वैसे-वैसे हमारे ज्ञान में वृद्धि होती रहती है।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जन्म वि. सं. 1783, आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ। शैशव अवस्था में ही पिता का साया उनके सिर से उठ गया था। बड़े हुए, विवाह हुआ, पर अकस्मात पत्नी का भी स्वर्गवास हो गया। संसार के इन अनित्य संबंधों को देखकर उनके मन में विरक्ति के अंकुर प्रस्फुटित हो गए। उन्होंने अपनी मां दीपांबाई से दीक्षा की अनुमति मांगी। मां ने कहा—'तेरे जन्म के समय मैंने सिंह का सपना देखा था। मैंने सुन रखा है, सिंह का सपना लेने वाली मां का पुत्र राजा होता है अथवा कोई बड़ा आदमी होता है। मैं तुम्हें भिक्षा से जीवन चलाने वाला साधु बनने की इजाजत नहीं दे सकती।' बहुत आग्रह करने पर भी मां ने दीक्षा की अनुमति नहीं दी। तत्समय के साधु आचार्य पूज्य रुघनाथजी ने मां को बहुत समझाया। मां ने देखे हुए स्वप्न की बात दोहराई। आचार्य रुघनाथजी ने कहा—'तुम्हारा सपना यथार्थ हो रहा है। साधु बनकर यह सिंह की ही तरह गर्जना करेगा। राजा तो केवल अपने राज्य में पूज्य होता है, साधु तो राजाओं का भी राजा होता है। वह सबके लिए 'पूज्य' होता है।' दीपांबाई के बात समझ में आ गई और भीखणजी को दीक्षा की स्वीकृति मिल गई।

राजस्थान में एक कहावत प्रचलित है—पूत के पांव पालने में ही पहचान लिए जाते हैं। भविष्य में होने वाली घटनाएं पहले ही अपना प्रतिबिंब दिखा देती हैं। तेरापंथ के प्रायः सभी आचार्यों के साथ यह कहावत अक्षरशः घटित हो रही है। उनकी महानता की सूचना उनके आचार्य बनने के पश्चात् नहीं, अपितु मुनि-अवस्था अथवा गृहस्थ-काल से ही मिल जाती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तो लिखा ही है—'अज्ञात के महासागर में ज्ञात एक छोटा-सा टापू है।' जैसे-जैसे अज्ञात ज्ञात बनता जाता है, वैसे-वैसे हमारे ज्ञान में वृद्धि होती रहती है।

तेरापंथ स्थापना दिवस पर आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का पावन स्मरण

यह घटना आचार्य भिक्षु के प्रभावशाली भावी नेतृत्व की ओर संकेत कर रही है। मां का सपना सच में परिणत हो गया।

आचार्य भिक्षु ने मुनि भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। वे तेरापंथ के द्वितीय आचार्य थे। आचार्य भिक्षु के साथ उन्होंने अपने जीवन का प्रलंब कालखंड बिताया। इन दोनों महापुरुषों में गहरा तादात्म्य संबंध था। शरीर दो थे, आत्मा एक थी। आचार्य भिक्षु ने सूक्ष्मता से मुनि भारमलजी के व्यक्तित्व का अध्ययन किया। उन्हें अति विश्वस्त समझकर अपना दायित्व सौंप दिया। उन्हें युवाचार्य के गरिमामय पद पर अभिषिक्त किया। मुनि भारमलजी तेरापंथ धर्मसंघ के द्वितीय आचार्य बनेंगे—ऐसी कोई भी भविष्यवाणी इतिहास में उपलब्ध नहीं है। शेष सभी

आचार्यों के होनहार भविष्य के बारे में कोई-न-कोई संकेत अवश्य मिलता है।

तेरापंथ के प्राण-प्रतिष्ठापक आचार्य भिक्षु मानव-मन के परीक्षक थे। आचार्य रायचंदजी मुनि अवस्था में थे, तभी आचार्य भिक्षु ने कहा—'रायचंद भारमल का भार संभालने वाला होगा।' आचार्य भिक्षु के मुखारविंद से निःसृत भावी का यह संकेत यथार्थता का अवबोध कराने वाला था। मुनि रायचंदजी प्रतिभा-संपन्न युवा साधु थे। आचार्य भिक्षु से उन्होंने दीक्षा ली। अपने दीक्षा-गुरु का विश्वास प्राप्त किया। अनेक वर्षों तक वे आचार्य भारमलजी के सहयोगी रहे। मुनि रायचंदजी की संघनिष्ठा और आचारनिष्ठा को देखकर आचार्य भारमलजी ने अपना उत्तराधिकार उन्हें सौंप दिया। महान पुरुषों द्वारा की गई उद्घोषणाएं यथार्थ होती हैं।

आचार्य रायचंदजी को अपने उत्तराधिकारी का चयन करना था। इसके लिए उन्हें अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा। जब मुनि जय की दीक्षा का प्रसंग आया, तब आचार्य भारमलजी जयपुर में विद्यमान थे, तभी उन्होंने आचार्य रायचंदजी से—जो उस समय मुनि अवस्था में थे कहा—'मेरे पीछे भार संभालने वाला तू है, तुझे भार संभालने वाला चाहिए, अतः तू ही जा।' आचार्य भारमलजी ने अपने युवाचार्य की और युवाचार्य के युवाचार्य की भी खुले आम घोषणा कर दी। उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भारमलजी ने मुनि रायचंदजी और मुनि जीतमलजी में तेरापंथ के होनहार भविष्य के दर्शन किए थे। परिणामस्वरूप आचार्य रायचंदजी ने भी अपना उत्तराधिकार मुनि जीत को सौंप दिया।

तेरापंथ धर्मसंघ के पांचवें आचार्य हैं—आचार्य मघवागणी। मघवा जब दीक्षा के लिए तैयार हुए, ऋषिराय मेवाड़ में रावलिया गांव में विराज रहे थे। युवाचार्यश्री जीतमलजी ने लाडनूं में उनका दीक्षा-संस्कार संपन्न किया। उस समय ऋषिराय को एक के बाद एक तीन छींकें आईं। सामान्यतया वे ज्योतिष आदि में विश्वास नहीं करते थे, पर उस दिन न जाने क्यों उन्हें उनमें कोई गुप्त सूचना प्रतीत हुई। प्रथम छींक पर वे मौन रहे। दूसरी छींक आई तब कहा—'लगता है यह साधु प्रभावशाली एवं अग्रणी बनने योग्य होगा।' तीसरी छींक आने पर कहा—'यह जीतमल का भार संभालने वाला होगा।' ऋषिराय के अमृततुल्य वचन नवदीक्षित बाल साधु के विषय में एक सुनिश्चित भविष्यवाणी सिद्ध हुए। आचार्य जीतमलजी ने मघवा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। तत्पश्चात् वे संघीय दायित्व से मुक्त होकर स्वाध्याय और ध्यान में लीन हो गए।

आचार्य मघवा के सामने अपने उत्तराधिकारी के चुनाव का प्रश्न था, पर उसका मनोनयन भी जयाचार्य ने पहले ही कर दिया। वि. सं. 1928 में जयाचार्य का चातुर्मास जयपुर में था। बालक माणक भी संपर्क में आया। उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने जयाचार्य के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। जयाचार्य ने परिवार वालों से बातचीत की। बाबा लिछमणदासजी ने कहा—'गुरुदेव! बालक शहर में रहने वाला है। प्रकृति से कोमल है। सर्दी-गर्मी के परीषह को कैसे सहन करेगा? कंधों पर भार लेकर चलना भी उसके लिए दुष्कर होगा।' जयाचार्य ने कहा—'अपने रजोहरण का भार तो उठा लेगा? मेरे उत्तरदायित्व का भार मघजी संभाल लेंगे, पर मघजी को भी तो कोई भार संभालने वाला चाहिए।'

जयाचार्य के कृपापूर्ण शब्दों से बाबा लिछमणदास हर्ष से आह्लादित हो गए और आचार्य मघवा की भावी व्यवस्था की घोषणा कर उन्हें उत्तराधिकार की चिंता से मुक्त कर दिया। आचार्य मघवा ने बड़ी सहजता से मुनि माणक को युवाचार्य माणक बना दिया और कालांतर में वे आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। पर आचार्य माणक के लिए ज्योतिर्विदों की भविष्यवाणी सफल नहीं हुई। वे अपनी भावी व्यवस्था नहीं कर सके। उनका असमय में ही महाप्रयाण हो गया। समूचा संघ तब चिंतामग्न हो उठा था। उस संक्रमण-काल में संघ के अनुभवी व वरिष्ठ साधु मुनि कालूजी, मुनि मगनलालजी आदि ने मिल-बैठकर भावी आचार्य के नाम का चिंतन किया। उस समय डालमुनि कच्छ प्रदेश में थे। उन्होंने भी लाडनूं की ओर प्रस्थान किया। कच्छ का रण पार कर वे बाव पहुंचे। डूंगरभाई मेहता वहां के प्रमुख श्रावक थे। वे बाव-राजाजी के दीवान भी थे। उन्होंने डालमुनि से निवेदन किया—'कच्छ के पूज्य तो आप कहलाते ही हैं, अब आपके सामने धर्मसंघ के पूज्य बनने का भी अवसर आ गया है।'

वि. सं. 1945 में डालमुनि कांकरोली में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। वहां के सुप्रसिद्ध कवि पंडित घनश्यामलालजी सनाढ्य उनके संपर्क में आए। प्रथम दर्शन में ही उनके भक्त बन गए। एक दिन उन्होंने स्थानीय श्रावकों से कहा—'मैं अनेक जैन-मुनियों के संपर्क में आया हूं, परंतु इनमें जो आकर्षण की शक्ति है—वह मैंने कहीं नहीं देखी। ये आचार्य बनने योग्य संत हैं।' लाडनूं की ओर प्रस्थान करते समय हिंदूजी जोधाणी ने कहा—'महाराज! शकुन बहुत अच्छे हो रहे हैं, आपके लिए पहुंचते ही पद तैयार है।'

सहज रूप में की गई ये भविष्यवाणियां डालमुनि के लाडनूं पहुंचने से पहले ही सच में बदल गईं। समूचे संघ ने डालमुनि को डालगणी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। दायित्व संभालने के पश्चात् एक दिन मगनमुनि से कहा—'कल्पना करो, असमर्थता के कारण मैं इस भार को उठाना स्वीकार नहीं करता, तो तुम लोगों ने मेरे विकल्प में किसी दूसरे का नाम तो अवश्य सोचा होगा। मुनिश्री ने इस बात को टालने का बहुत प्रयत्न किया। अंततोगत्वा भावी लाभ की संभावना से साहसपूर्वक सारी बात निवेदित कर दी। आप नहीं मानते तो हमने कालूरामजी (छापर) का नाम आपके विकल्प में सोचा था। तत्काल डालगणी ने उस बात पर पटाक्षेप कर दिया। ऐसा लगता है कि उन्होंने उसी दिन से एक ऐसे व्यक्ति को पा लिया, जिसे अपना दायित्व सौंपकर वे निश्चिंत हो सकते थे।

तेरापंथ के अष्टमाचार्य कालूगणी का जन्म छापर में हुआ। उस समय जयाचार्य और युवाचार्य मघवा बीदासर में प्रवास कर रहे थे। वहां के प्रमुख श्रावक नगराजजी बैंगानी को कोई इष्ट था। समय-समय पर उन्हें भविष्य में होने वाली घटनाओं की सूचना मिलती रहती थी। एक दिन व्याख्यान में खड़े होकर कहा—'यहां से चार कोस की दूरी पर एक शिशु का जन्म हुआ है, वह तेरापंथ का प्रभावशाली आचार्य होगा।' यह थी कालूगणी के बारे में की गई भविष्यवाणी। ज्योतिर्विदों ने भी उनके बारे में कहा—'यह जातक अत्यंत भाग्यशाली होगा। यह राजाओं का राजा होगा। तेतीसवें वर्ष में इसके द्वार पर हाथी बंधेगा।'

ऐसे स्पष्ट संकेतों से पता चलता है कि तेरापंथ धर्मसंघ के आठवें आचार्य का दायित्ववहन कालूगणी ही करेंगे। कालूगणी को भावी व्यवस्था के बारे में निर्णय करना है। वे भविष्यद्रष्टा थे। वि. सं. 1982 में आप लाडनूं पधारे। मार्ग में फणधर नाग मिला। वह एक शुभ शकुन था। अप्रत्याशित रूप में बालक तुलसी की दीक्षा हो गई। तब से कालूगणी निश्चिंत हो गए। उनके निर्माण में आपने पूरा समय लगाया। आपका अतिरिक्त वात्सल्य मुनि तुलसी को प्राप्त हो रहा था। आस-पास रहने वाले साधु और श्रावक अनुभव कर रहे थे 'मुनि तुलसी' ही नौवें आचार्य बनेंगे।

वि. सं. 1987 में वृद्धिचन्दजी गधैया ने लाडनूं में पूज्य कालूगणी के दर्शन किए और कहा—पिछले दिनों मुझे पिताश्री (श्रीचंदजी) का दरसाव हुआ। मैंने उनसे पूछा—'शासन संबंधी कोई नई बात हो तो बताएं।' तब पिताश्री ने कहा—'पूज्य कालूगणी भाग्यशाली हैं, पुण्यवान हैं, शासन-जयवंता हैं। आचार्य के लिए सबसे बड़ा काम होता है भावी आचार्य का निर्धारण। कालूगणी के सामने भार संभालने वाले मुनि तुलसीरामजी हो गए हैं।'

प्रस्तुत घटना मुनि तुलसी के होनहार भविष्य का निर्देश दे रही थी। वि. सं. 1993 में मुनि तुलसी आचार्य तुलसी बन गए। उस समय उनकी अवस्था मात्र 22 वर्ष की थी। उन्होंने अपने 62 वर्ष के दीर्घकाल में अनेक नई रेखाएं खींची। उत्तरदायित्व का प्रश्न तो उनके सामने था ही। अनेक साधुओं पर उन्होंने दृष्टिक्षेप किया। अंततोगत्वा मुनि नथमल को 'महाप्रज्ञ मुनि नथमल' और उसके बाद 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य तुलसी ने अपने कर-कमलों से 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' को आचार्य महाप्रज्ञ बनाकर एक नए इतिहास का निर्माण किया।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के तेजस्वी भविष्य के बारे में ज्योतिर्विदों ने कई भविष्यवाणियां की थीं। वि. सं. 2006 में मुनि चंपालालजी ने आचार्यश्री तुलसी को निवेदन किया—गुरुदेव! मुझे स्वप्न कम आते हैं। जब कोई सपना आता है तो वह सही होता है। मैंने सपने में देखा कि आपने मुनि नथमलजी (टमकोर) को युवराज का पद दिया है। उनका स्वप्न सच में बदल गया। जयसिंहजी मणोथ (डीडवाना) हस्तरेखाविद थे। उन्होंने आचार्य तुलसी से कहा—आप अपने जीवन के 64वें वर्ष में 'म' नाम वाले साधु को उत्तराधिकारी बनाएंगे। मुनि नथमल को 'महाप्रज्ञ' का अलंकरण प्रदान किया गया। इस अलंकरण को आचार्य तुलसी ने 'आचार्य महाप्रज्ञ' के रूप में बदल दिया। इन सब घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि तेरापंथ के दसवें आचार्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का किसी-न-किसी रूप में पूर्वाभास हो गया था।

युवाचार्य महाश्रमण तेरापंथ धर्मसंघ की गौरवशाली आचार्य परंपरा के भावी कर्णधार हैं। 28 वर्ष की अवस्था में आचार्यश्री तुलसी ने आपको 'महाश्रमण' पद से अलंकृत किया। महाश्रमण पद का अलंकरण ही युवाचार्य पद की ओर प्रस्थान था। दिल्ली में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पदाभिषेक समारोह में आचार्य तुलसी ने स्पष्ट उद्घोषणा की थी कि मुनि मुदित के लिए जो कार्य मुझे करना है—वह मैंने कर दिया। अवशिष्ट कार्य समय आने पर आचार्य महाप्रज्ञ करेंगे। गुरुदेव के मुखारविंद से निःसृत ये शब्द मुनि मुदित के तेजस्वी भविष्य के बारे में इंगित कर रहे हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि तेरापंथ के होनहार भविष्य की सूचना समय-समय पर किसी-न-किसी रूप में मिलती रही है। ❖

आहार, निद्रा, भय : जीवन के तीन तत्त्व

काका कालेलकर

जीवन ही इस विश्व की चेतना है। जीवन का व्यापार नए-नए ढंग से चले, इसीलिए जीवन ने अपनी सहूलियत के लिए मृत्यु की व्यवस्था की है। शुद्ध दृष्टि से सोचा जाए तो मृत्यु जीवन का एक सहायक अथवा सेवक है। जीवन के प्रधान-प्रधान सब हेतु मृत्यु और पुनर्जन्म के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। जीना और मरना, दोनों, जीवन के अंग हैं।

आंखें साफ रहें और देखने का काम पूरी ताजगी से कर सकें इसलिए क्षण-क्षण पलकों के द्वारा आंखें बंद होती हैं और उसी व्यापार के द्वारा आंखें साफ भी होती हैं। मृत्यु का भी ऐसा ही उपयोग है। किंतु कुदरत ने अथवा कुदरत के मालिक भगवान ने मृत्यु को आसान और सस्ता नहीं बनने दिया। यद्यपि यह बात सही है कि मृत्यु कब आएगी—इसका पता नहीं लगता तो भी मृत्यु आसानी से नहीं आती। जो लोग दिन-रात मृत्यु से खिलवाड़ ही करते हैं, ऐसे सैनिक और सेनापति भी कई युद्धों में जीवित रहते हैं। वे साक्षी दे सकते हैं कि मरना आसान नहीं है।

कुदरत में यह भी पाया गया है कि अकाल पड़ने पर या प्राकृतिक उत्पात होने पर जब सारा-का-सारा मुल्क बेचिराग हो जाता है, मनुष्य-सृष्टि और पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि जीव-सृष्टि, खेचर, जलचर, भूचर आदि त्रिविध प्राणी-सृष्टि और वनस्पति-सृष्टि—सबका सर्वनाश होने के बाद भी उसी स्थान पर फिर से जीवन का प्रादुर्भाव होता है और धीरे-धीरे सब योनियां पहले की जैसी प्रकट होती हैं। *धाता यथापूर्व अकल्पयत्।*

जीवन का आत्यंतिक नाश न हो और रोज-रोज स्वतंत्र रूप से सृष्टि का निर्माण करना न पड़े, इसलिए कुदरत ने प्राणियों में तीन अदम्य प्रेरणाएं रखी हैं।

मनुष्य अगर खाना नहीं खाएगा, जीव-सृष्टि अगर आहार नहीं करेगी तो सृष्टि का अंत होगा। इसलिए कुदरत ने प्राणीमात्र में भूख और स्वाद की जबरदस्त प्रेरणा रखी है। मनुष्य खाने का निश्चय कर बैठे तो भी भूख और स्वाद हंसकर उसे कहते हैं—*मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्षति।* मनुष्य से खाए बिना रहा नहीं जाता। भूख की आग उसे खाए बिना चैन नहीं पड़ने देती और स्वाद का लालच भी उसे खाने को प्रेरित करता है। प्राणीमात्र का अनुभव है कि खाए बिना रहा नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि खाना या नहीं खाना—इसका निर्णय कुदरत ने मनुष्य के वश में रखा ही नहीं।

दूसरी प्रेरणा है नींद की। नींद के बिना प्राणियों को आराम नहीं मिलता। शरीर में ताजगी नहीं आती। जब नींद आती है, तब प्राणी सो ही जाता है। विलासी मनुष्य भले ही कुछ समय के लिए नींद को टाल दे, मनस्वी और कार्यार्थी भले ही नींद पर काफी हद तक विजय प्राप्त करे, लेकिन अंत में नींद की विजय ही होती है। गुडाकेश (नींद का स्वामी) अर्जुन को भी सोना ही पड़ता था।

तीसरी प्रेरणा है भय की। आत्मरक्षा के लिए प्राणीमात्र में भय का

जीवन-प्रेरणाओं के बारे में धर्म का रुख क्या है, हम जरा देखें। जीने के लिए आहार की आवश्यकता है। इस आहार के प्रति उपेक्षा न हो और उसके द्वारा जीवन का आनंद भी मिले, इसलिए कुदरत ने भूख और स्वाद—दो तत्त्वों को स्थान दिया है। भूख को हमारे शास्त्रों ने 'अशनाया पिपासा' कहा है। भूख के साथ प्यास भी है। जब हम भूख कहते हैं, तब उसमें प्यास का भी अंतर्भाव होता है। अगर सूक्ष्म ढंग से सोचा जाए तो श्वास-प्रश्वास भी भूख का ही एक रूप है। शरीर चलाने के लिए, शरीर का खून स्वच्छ रखने के लिए, खाद्य-पेय की जरूरत है। उससे भी अधिक श्वासोच्छ्वास की जरूरत है। अब धर्म श्वासोच्छ्वास को अपने हाथ में लेकर प्राणायाम के द्वारा, पूर्ण श्वसन के द्वारा, इस क्रिया को नियमित करके आरोग्य को और आयुष्य को बढ़ाता है।

स्वभाव रखा है। खतरा देखते ही प्राणी डर जाता है और फिर तो विवेक आदि सब भूलकर खतरे टालने के लिए भाग ही जाता है। और भाग न सका तो लड़ने को तैयार होता है। भय भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक और अजेय तत्त्व है।

इस तरह जीने के लिए आहार, निद्रा और भय—ये तत्त्व प्राणी-जीवन में कुदरत ने जबरदस्त और अदम्य प्रेरणा के साथ जोड़ दिए हैं। उसी तरह जीवन-परंपरा अबाधित रखने के लिए संतानोत्पत्ति, प्रजोत्पत्ति के साथ भी संभोग की प्रेरणा उतनी ही जबरदस्त और करीब-करीब अदम्य बनाकर रखी है, ताकि प्राणी जीए और मरने के पहले दूसरे जीवों को, अपत्यों को पैदा करे और जीवन-परंपरा अक्षुण्ण रहे।

विश्व की निर्मिति और स्थिति अखंड चले, इसलिए विश्व-देवता जीवन ने यह जो व्यवस्था की है, उसी को समझकर जीवन का हेतु सिद्ध करने के लिए कुदरत ने मनुष्य को धर्मबुद्धि दी है। आहार, निद्रा, भय और संभोग—इन चार सार्वभौम और अदम्य वृत्तियों को नियंत्रण में रखना, उन पर विजय पाना और जीवन के अस्तित्व को कृतार्थ करना, यही है धर्म का कार्य। धर्म के द्वारा ही व्यक्तिगत जीवन, कौटुंबिक जीवन और सामाजिक जीवन कृतार्थ हो सकता है। जीवन के अंदर जो संघर्ष चलते हैं और जिनके कारण मृत्यु को बार-बार हस्तक्षेप करना पड़ता है उसका नियंत्रण करना धर्म का काम है। धर्म के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु पर विजय पा सकता है और जीवन को सफल बना सकता है।

अब ऊपर की चार सार्वभौम जीवन-प्रेरणाओं के बारे में धर्म का रुख क्या है, हम जरा देखें। जीने के लिए आहार की आवश्यकता है। इस आहार के प्रति उपेक्षा न हो और उसके द्वारा जीवन का आनंद भी मिले, इसलिए कुदरत ने भूख और स्वाद—दो तत्त्वों को स्थान दिया है। भूख को हमारे शास्त्रों ने 'अशनाया पिपासा' कहा है। भूख के साथ प्यास भी है। जब हम भूख कहते हैं, तब उसमें प्यास का भी अंतर्भाव होता है। अगर सूक्ष्म ढंग से सोचा जाए तो श्वास-प्रश्वास भी भूख का ही एक रूप है। शरीर चलाने के लिए, शरीर का खून स्वच्छ रखने के लिए, खाद्य-पेय की जरूरत है। उससे भी अधिक श्वासोच्छ्वास की जरूरत है। अब धर्म श्वासोच्छ्वास को अपने हाथ में लेकर प्राणायाम के द्वारा, पूर्ण श्वसन के द्वारा, इस क्रिया को नियमित करके आरोग्य को और आयुष्य को बढ़ाता है।

धर्म में अति आहार और अनाहार, प्रतिकूल आहार और प्रतिकूल समय का आहार टालने के लिए खान-पान का नियंत्रण किया है, इसी को 'योग' कहा जाता है। जो अधिक खाता है अथवा बिल्कुल खाता ही नहीं, उसके लिए योग का लाभ नहीं मिल सकता। निद्रा का भी ऐसा ही है। आहार और निद्रा दोनों का परस्पर संबंध घनिष्ठ है। अति सोना और बिल्कुल सोना ही नहीं, दोनों का धर्म ने निषेध किया है—

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तनम् अननश्तः।
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

भूख लगे तब खाना और भूख से ज्यादा नहीं खाना, ये दोनों बातें स्वाभाविक हैं, कठिन नहीं हैं। किंतु केवल भूख की प्रेरणा प्राणियों के लिए बस नहीं है। इसलिए कुदरत ने प्राणियों को खाद्यानंद यानी स्वादानंद दिया है। खाने-पीने में क्षुधा-निवृत्ति के उपरांत स्वादतृप्ति भी मिलती है और जीना सार्थक होता है। इसी स्वादवृत्ति पर विजय पाए बिना जीवन कृतार्थ नहीं होता। देखा गया है कि भूख को रोकना इतना कठिन नहीं है, जितना स्वाद को रोकना मुश्किल है।

स्वाद के वश होने पर मनुष्य अपने सब कर्तव्यों को भूल जाता है। आरोग्य का नाश होगा और प्राणियों को भूखे रहना पड़ेगा, तरह-तरह के रोग शरीर में पैदा होंगे, यह सब जानते हुए भी यह सारा ज्ञान स्वाद के सामने गायब हो जाता है। जिन दो चीजों का एक साथ खाना शरीर-प्रकृति के लिए बाधक है उनको स्वादलोलुप मनुष्य खाए बिना नहीं रहता। स्वाद का दास खाने की मात्रा भी संभाल नहीं सकता और साथियों के प्रति, कुटुंबियों के प्रति और समाज के प्रति (और पशु-पक्षी आदि जीव-सृष्टि के प्रति भी) अपना कर्तव्य या धर्म स्वादलोलुप मनुष्य के ध्यान में नहीं रहता। इसलिए स्वाद-जय को धर्म की बुनियाद कहा है : *जितं सर्वं जिते रसे।*

गांधीजी ने इसी को 'अस्वाद व्रत' कहा है। इसका सीधा अर्थ यही है कि जो-कुछ भी खाना हो, स्वादतृप्ति के लिए और स्वाद को बढ़ावा देने के लिए हम न खाएं, किंतु क्षुधा निवारण के लिए, शरीर धारण के लिए, इंद्रियों की शक्ति, शरीर-शक्ति पूर्ण रूप से कायम रखने के लिए योग्य मात्रा में अथवा उससे कुछ कम खाना मनुष्य के लिए हितकर है। इसके मानी यह नहीं कि खाते समय मनुष्य को स्वाद का आनंद नहीं मिलेगा। दूध पीते, रोटी खाते, गन्ना चूसते या शहद चाटते स्वादेंद्रिय को स्वाद का अनुभव तो होगा ही। शरीर को तुष्टि और पुष्टि मिलेगी ही। लेकिन इनके वश न होने की जागृति अखंड और कायम रखनी चाहिए। इस कर्तव्य को समझाने के लिए श्री शंकराचार्य संन्यासियों को कहते हैं, 'क्षुद् व्याधिश्च चिकित्स्यताम्'

क्षुधा को, भूख को एक रोग ही समझ लो और उस रोग को दूर करने की दवा आहार है, ऐसा समझकर योग्य मात्रा में ही उसका सेवन करो। दवा कम या ज्यादा खाने से भयानक नुकसान होता है, यह हर कोई जानता है। शंकराचार्य कहते हैं : *स्वादु अन्नं न तु याच्यताम्* स्वादिष्ट अन्न की याचना नहीं करनी चाहिए। उसके लिए लालायित नहीं होना चाहिए। *विधिवशात् प्राप्तेन सन्तुष्यताम्* इत्तिफाक से जो-कुछ प्राप्त हुआ, मिला, उससे संतोष मानना चाहिए। और जगह पर दूसरी भी एक कसौटी बताकर रखी है—*यथा मेदोवृद्धिर न जायते* शरीर में चरबी न बढ़े, इसकी संभाल रखनी चाहिए। औषध को समान, योग्य मात्रा में ही खाना चाहिए।

किसी ने थोड़े शब्दों में कहा है—जिन इंद्रियों में हड्डी नहीं है, उनका उन्माद जबरदस्त है। इन दोनों पर विजय पाना जगत को जीतने के समान है। इसमें जीभ को जीतना नित्य विजय है। इसीलिए कहा है कि अगर स्वाद जीत लिया तो सब-कुछ जीत लिया।

और भी एक बात है। जब कभी हम खाने बैठते हैं तब भूख के जोर को भी दबाकर मनुष्य औरों के खाने की चिंता करे। आस-पास कौन-कौन भूखा है, किसे खिलाने का हमारा धर्म है, जो अन्न हम खाते हैं, उस पर और किन-किन का अधिकार है, यह सब सोचकर, धर्मबुद्धि को जागृत रखकर अन्न के समविभाग का (बांटने का) धर्म याद कर उसका पालन करने के बाद ही मनुष्य खाना प्रारंभ करे। जहां भूख बढ़ी, वहां समविभाग धर्म जागृत होने पर भी मनुष्य उसका द्रोह करने लगता है। भूख के कारण होने वाले पापों की क्षमा हो सकती है। स्वाद-लोलुपता के कारण होने वाले पाप इतने घृणित होते हैं कि उनकी नीचता को क्षमा कौन करे? समाज-धर्म अगर जागृत रखना है, अद्रोह से जीना है, तो स्वाद पर विजय पानी ही चाहिए। ❖

योगशास्त्र में जिन साधनाओं का उपयोग बताया गया है, उनके निरंतर अभ्यास से मनुष्य में विवेक और वैराग्य उदित होते हैं। विवेक के द्वारा वह अच्छे से बुरे को अलग करके देख सकता है और वैराग्य के द्वारा बुरे को छोड़ने में समर्थ होता है। जब वह समझ जाता है कि अनेक प्रकार की कामनाओं और अभिलाषाओं की तरंगें अनित्य और क्षण-भंगुर हैं, ममता और अहंकार बंधन-मात्र हैं, तब वह अपने उस शुद्ध रूप को जान लेता है जो इंद्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न प्रकृति का है, नित्य चेतन है और निर्विकार है। इसी निर्विकार केवल-रूप को पहचानने वाला 'कैवल्य' पद को प्राप्त होता है। यह ज्ञान-मार्ग की साधना है। निरंतर मनन और निदिध्यासन के द्वारा मनुष्य इस मार्ग में अग्रसर होता रहता है। निरंतर बौद्धिक आलोचना, मनोनिग्रह और इंद्रियनिग्रह के द्वारा इस मार्ग में अग्रसर हुआ जाता है। इसमें पद-पद पर भय और आशंका होती है; कब मनुष्य मन के साथ अपने-आप को एक समझ ले, कुछ कहा नहीं जा सकता। विवेक सोलह आने विवेक है कि नहीं यह कोई पारखी गुरु ही बता सकता है। और वैराग्य सचमुच वैराग्य है कि नहीं यह तो कदाचित् गुरु भी नहीं बता पाता। जरा भी कच्चाई रह जाए, तो मनुष्य का 'अस्मिता'-दोष उसे धर दबोचता है। बड़े-बड़े मुनि अपनी समस्त तपस्याओं का गर्व लेकर इस मार्ग में अग्रसर हुए हैं और प्रलोभन के एक ही धक्के में धराशाई हो गए हैं। विवेक की तीसरी आंख भी अकालवसन्तोद्गम को समझने में गलती कर जाती है। गोसाईंजी ने बहुत सोच-समझकर कहा था कि—'ज्ञान मार्ग कृपाण कै धारा, परत खगेश लाग नहिं बारा'—यह ज्ञान मार्ग कृपाण की धारा है। अपने 'केवल' रूप को समझने में निरंतर गलती होने की संभावना है। इस मार्ग से सैकड़ों साधकों ने आत्म-स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया है। बहुतेरे सफल भी हुए हैं, असफल भी कम नहीं हुए। वस्तुतः कृच्छ्र-तप और समाधि के द्वारा अपने-आप को पहचान लेने में सब समय सहज भावना का रहना संभव नहीं।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

आवश्यक है ज्ञानार्जन

मुनि दुलहराज

शिष्य ने कहा—'भदंत! मैं दीक्षित हूं, तपस्वी हूं, अकिंचन हूं, निरारंभ हूं, विरत हूं और संयम-योगों में प्रवृत्त हूं। तो फिर मुझे पढ़ने की क्या आवश्यकता है?'

गुरु ने कहा—'शिष्य! ज्ञानार्जन के अभाव में तेरा उद्देश्य सफल नहीं होगा। जिस प्रयोजन के लिए तू साधु बना है, वह सफल नहीं होगा। हाथी अपने शरीर-शोधन के लिए नदी में स्नान करता है। परंतु बाहर आते ही वह अपनी सूंड से रेत उठाकर सारे शरीर पर डाल लेता है। यह उसका स्वभाव है। उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर भी, संयम-योग में प्रयत्नशील रहने पर भी, श्रुताध्ययन के अभाव में, सूत्र के विरुद्ध आचरण करता हुआ अधिक कर्मों को बांध लेता है। इसीलिए ज्ञानार्जन अत्यंत आवश्यक है।

'जैसे कोई व्यक्ति श्लीपद रोग से ग्रस्त है। वह अपने खेत में निदान करने जाता है। जितना निदान करता है उससे ज्यादा अपने स्थूल पैरों से धान्य-पौधों को दबा देता है। उसी प्रकार श्रुत पाठ के बिना मुमुक्षु व्यक्ति भी अपने चारित्र-धान्य को हिंसा आदि से मर्दन कर देता है। इसलिए शिष्य! पढ़ना आवश्यक है।'

शिष्य ने कहा—'भदंत! जैसे कोई रोगी वैद्य को ही पूछता है, किंतु वैद्यसंहिता को नहीं पूछता, इसी प्रकार मैं भी आपके परामर्श से सारी क्रियाएं करूंगा। पढ़ने से मेरा क्या प्रयोजन है?'

गुरु ने कहा—'ठीक है। रोगी वैद्य को बिना पूछे कोई कार्य नहीं करता। परंतु यदि वह चिकित्साशास्त्र का कुछ ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे बार-बार वैद्य को पूछने की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार तू भी मेरे परामर्श से ही कार्य करेगा, परंतु ज्ञानार्जन करने के बाद बार-बार पूछने की आवश्यकता नहीं रहेगी। तू स्वयं चरण-विधि में निपुण बन जाएगा।'

शिष्य ने कहा—'भदंत! रोगी को स्वास्थ्य-लाभ से प्रयोजन है। वह चिकित्साशास्त्र के झंझट में क्यों पड़ेगा? मेरे तो आप मार्गदर्शक हैं ही। मैं श्रुताध्ययन के झंझट में नहीं पड़ना चाहता।'

गुरु ने कहा—'शिष्य! ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्या तूने उस अंधे विप्र की कथा नहीं सुनी?

'उज्जैनी नगरी में सोमिल नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अंधा हो गया। उसके आठ पुत्र थे। सारे विवाहित थे। एक बार पुत्रों ने पिता से आंख की चिकित्सा कराने के लिए कहा। बूढ़े ने कहा—पुत्रो! मैं आंख की चिकित्सा क्यों कराऊं? तुम आठ पुत्रों की सोलह आंखें, तुम्हारी स्त्रियों की सोलह आंखें और तुम्हारी माता की दो आंखें—इस प्रकार मेरे चौंतीस आंखें हैं तथा परिजन की आंखें भी मेरी ही हैं। इतनी आंखें रहते मेरी दो आंखें न रहने से क्या अंतर आ सकता है? लड़कों ने समझाया, पर बूढ़ा अपनी बात पर अड़ा रहा।

एक दिन घर में आग लग गई। सारे व्यक्ति घर से बाहर आ गए। बूढ़े को भूल गए। दृष्टि के अभाव में बूढ़ा आग में झुलसकर मर गया।

'इसलिए शिष्य! तू ज्ञानार्जन कर। कार्य और अकार्य को जान और संसार-सागर से पार चला जा।

'शिष्य! श्रुत के अध्ययन से आठ लाभ होते हैं :

1. आत्महित की संप्राप्ति।
2. ज्ञान और क्रिया का विवेक।
3. भाव संवर की संप्राप्ति।
4. अपूर्व वैराग्य की संप्राप्ति।
5. चित्त की स्थिरता।
6. तपः कर्म की संप्राप्ति।
7. निर्जरा-लाभ।
8. दूसरों को धर्म में स्थिर करने की शक्ति।'

शिष्य ने कहा—'भदंत! यदि ऐसा है तो मैं अवश्य पढ़ूंगा।' ❖

बालकथा

सबसे बड़ी विजय

रघुवीर चौधरी

संगमपुर में भगीरथ नाम का राजा राज्य करता था। गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम के कारण त्रिवेणी तीर्थ की महिमा बढ़ी थी, उसी तरह भगीरथ के राज्य में हिंदू, जैन तथा बौद्ध धर्म का संगम था। सुविधा, संपत्ति, न्याय का संगम था। प्रजा सुखी थी। राज्य में शांति थी। लोगों का आपस में स्नेह था। महाराज भगीरथ के शासन में संगमपुर नाम मशहूर हो गया था। विदेशी यात्री यह देखकर खुश होते।

विरासत में मिले राज्य को भगीरथ ने और धनवान बनाया। प्रजा आलसी बनने के बजाय आगे बढ़ती रहे, मेहनत करती रहे, उसी पर ध्यान दिया।

महाराज भगीरथ के नाम का बोलबाला था।

आसपास के राजा महाराज भगीरथ से कुछ भी सीखने के बजाय उनसे ईर्ष्या करने लगे। कई राजाओं ने अपने निजी धर्म को राज्य का धर्म बनाया था। वे दूसरे धर्मों की उपेक्षा करते थे और वे भगीरथ को अधार्मिक बताते थे। वे आडंबर को धर्म मानते थे, जबकि भगीरथ धर्म का सही आचरण करता था।

एक दिन की बात है। भगीरथ ने एक ही परिवार के तीन भाइयों को राजसभा में बुलाया। उनका सम्मान किया। तीनों भाई अलग धर्म में आस्था रखते थे। फिर भी ये सगे भाई का नाता टिकाकर जी रहे थे। इसीलिए भगीरथ उनका आदर करता था।

बड़ा भाई श्रीकृष्ण का उपासक था।

मंझले भाई को महावीर की उपासना में विश्वास था।

सबसे छोटा भाई बुद्ध का उपासक था।

पड़ोसी शासकों ने यह घटना सुनी। वे कहने लगे कि भगीरथ नास्तिक तो है ही। अब वह गलत लोगों का आदर करके गलत काम भी कर रहा है।

भगीरथ के जासूस यह सारी जानकारी उसे पहुंचाते रहते। यह सुनकर गुस्सा होने के बजाय भगीरथ को दुख होता। वह अपने भीतर देखता। अपने गुरु की सलाह लेता।

एक बार एक पड़ोसी राजा ने संगमपुर जा रहे एक यात्री को रोका। उससे पूछा, 'तुम क्यों जा रहे हो वहां?'

यात्री ने भगीरथ की प्रशंसा की। यह सुनकर राजा ने उसे कारागार में डाला। जासूसों ने यह बात भी बता

●

गुरुदेव अपने आसन पर बैठे थे। महाराज ने दंडवत् प्रणाम किया। गुरुदेव के चरणों में बैठे और पूछा, 'गुरुदेव कल शाम से एक सवाल मुझे सता रहा है। क्या इस जगत में ऐसा भी कुछ होगा, जो मुझे अभी पाना बाकी है?'

'हां, विजय!'

'आपके आशीर्वाद से मुझे कई विजय प्राप्त हुई हैं। अब और कौन-सी विजय?'

'हां, वह विजय सबसे बड़ी है। उसके लिए सेना की सहायता नहीं चाहिए। इस विजय के लिए कहीं जाना भी नहीं होगा।'

●

दी। अब पहली बार राजा को गुस्सा आया। उसे लगा कि कुछ करना होगा।

दूसरी घटना और एक राज्य में घटी। वहां के सेनापति ने धर्म के मुद्दे पर भगीरथ की सेना में असंतोष जगाने की कोशिश की। भगीरथ बेचैन था। उसने सभा बुलाई। अपने मंत्रियों की राय ली। भगीरथ के सेनापति ने कहा, 'महाराज आप चिंता न करें। मैं देख लूंगा।'

परंतु राजा से मुख्यमंत्री ने कहा, 'हमारे शासन में दखल करने वालों को दंड देना चाहिए।' भगीरथ ने उनकी बात पर गौर किया। सेनापति को प्रेम से देखा। सारी सभा को धन्यवाद दिया और कहा; 'मैं इस विषय में गुरुदेव से मिलना चाहता हूं। उनकी सलाह लेकर काम करना चाहता हूं।'

सुबह का समय था। महारानी श्रीदेवी पूजा कर रही थी। उन्होंने भगवान की आरती देकर खुद महाराज की आरती उतारी। विजय की शुभकामना देते हुए महाराज के माथे पर कुमकुम तिलक किया।

'हम सेना लेकर लड़ने नहीं जा रहे, देवी! हम गुरुकुल जा रहे हैं।'

'मैं जानती हूं, इसीलिए यह तिलक कर रही हूं।' श्रीदेवी खुश होकर बोली। उसमें विजय का संकेत था।

भगीरथ पड़ोसी राजाओं को तैयारी करने का समय देना चाहते थे। मुख्यमंत्री ने कहा, 'आपकी उदारता की मैं कदर करता हूं, परंतु यह राजनीति का सवाल है। दो राज्यों के बीच स्पर्धा में उदारता दिखाना उचित नहीं है। इसके अलावा, हमारी सेना सदा सजग रही है। विजययात्रा की सूचना, एक प्रहर पहले देने से भी हमारी सेना तैयार हो जाती है।'

भगीरथ का राज्य अब साम्राज्य बन गया था। उसमें जानहानि बहुत ही कम हुई थी। भगीरथ ने किसी भी राजा को उसकी भूल से अधिक दंड नहीं दिया था।

कवि राजा भगीरथ की प्रशंसा करते थे। तपस्वी आशीष देते थे।

विजयी सेनापतियों का अभिवादन करते हुए महाराज ने कहा, 'आपको पुरस्कार पाने का अधिकार है। लड़ाई में जो-कुछ मिला है सब आपका है। इसका उपयोग आप खुशी से करें। इसके साथ याद रखें कि संगमपुर में प्रजा उन वीर पुरुषों को आदर देती है जो धीर हैं। हमने जिन राजाओं पर विजय प्राप्त की है। उन्हें मुक्त रखा है। इससे हमारी उदारता की ख्याति बढ़ी है। परंतु हम अभिमान नहीं करेंगे। जो पुरुष उदारता या नम्रता का अभिमान करते हैं उनका विकास रुक जाता है।'

कभी-कभी लगता था कि महाराज भगीरथ अपने गुरुदेव की वाणी बोलते हैं।

विजय के उन्माद में राजा विलासी हो जाते हैं। शासन का दायित्व भूल जाते हैं। इससे प्रजा दुखी हो जाती है। लेकिन राजा भगीरथ अलग थे।

एक शाम उपवन में महाराज टहल रहे थे। सूर्य की धूप के कारण सुगंध का प्रभाव कम हुआ था। खिले हुए कमल की पंखुरियां बंद होने लगी थीं। महारानी के प्रासाद की दिशा से संगीत के सुर बहते आ रहे थे। तभी यकायक महाराज भगीरथ के मन में एक सवाल उठा :

'इस जगत में ऐसा भी कुछ होगा, जो मुझे अभी पाना बाकी है?'

इस सवाल का जवाब वे सोच नहीं पाए। वे अंतःपुर में पहुंचे। महारानी श्रीदेवी सो गई थीं। नींद में वे और अधिक सुंदर लग रही थीं।

राजा ने सोचा : 'क्या यह सुंदरता हमेशा रहेगी?'

रात-भर भगीरथ को नींद नहीं आई। सुबह महारानी जगकर तैयार हों इससे पहले भगीरथ गुरुदेव के पास चले गए।

गुरुदेव अपने आसन पर बैठे थे।

महाराज ने दंडवत् प्रणाम किया। गुरुदेव के चरणों में बैठे और पूछा, 'गुरुदेव कल शाम से एक सवाल मुझे सता रहा है। क्या इस जगत में ऐसा भी कुछ होगा, जो मुझे अभी पाना बाकी है?'

'हां, विजय!'

'आपके आशीर्वाद से मुझे कई विजय प्राप्त हुई हैं। अब और कौन-सी विजय?'

'हां, वह विजय सबसे बड़ी है। उसके लिए सेना की सहायता नहीं चाहिए। इस विजय के लिए कहीं जाना भी नहीं होगा!' राजा ध्यान से सुन रहे थे। गुरुदेव ने आगे कहा, 'हां, वत्स! मैं अपने-आप पर विजय पाने की बात कर रहा हूं। यह विजय सम्राट सिकंदर को भी प्राप्त नहीं हुई थी। त्याग की विजय को वे समझ सकें इससे पहले ही उनका निधन हुआ।'

अपने-आप पर विजय पाने के लिए महाराज भगीरथ ने यज्ञ आरंभ किया। जो कुछ निजी संपत्ति थी वह दान में दे दी। महारानी ने भी अपने अलंकार दान में दे दिए।

महाराज भगीरथ ने मुख्यमंत्री और सेनापति को बुलाया। उनसे कहा कि पराजित राजाओं को अपने राज्यों का मूल अधिकार लौटा दें।

सामने की दिशा से गुरुदेव आ रहे थे। विनोद के स्वर में वे बोले, 'सब-कुछ दे दिया है या अभी कुछ शेष है?'

'आपके आशीर्वाद मेरे पास बचे हैं, जो मैं किसी को नहीं दूंगा।'

इस ओर भगीरथ ने सब-कुछ छोड़कर तपस्वी का जीवन जीना शुरू किया। दूसरी ओर सेनापति ने पराजित राजाओं को उनके मूल विशेष अधिकार लौटा दिए। स्वतंत्र बनने के बाद राजाओं को कुविचार आने लगे। उन्होंने सोचा : 'हमें नीचा दिखाने के लिए ही भगीरथ ने हमें अपना राज्य लौटाया है। उसको तहस-नहस करने का यही अच्छा समय है।'

राजाओं ने संगठित होकर हमला किया। भगीरथ तथा उनकी सेना ने उनका सामना किया। हमला करने वाले हार गए। उनको फिर से पकड़ा गया। अब उन राजाओं को अपनी भूल समझ में आई। वे पछताए।

पराजित राजाओं को सुमति सूझी, यह जानकर भगीरथ खुश हुए। उनके चेहरे पर खुशी देखकर गुरुदेव को लगा, राजा विजय का अभिमान कर रहा है। उन्होंने दूसरे दिन सुबह भगीरथ से कहा, 'आज भिक्षापात्र लेकर नगर में जाइए। मेरे लिए खाने की चीजें मांग लाइए।'

राजा पहले तो अचकचाए। फिर उनका संकोच दूसरे ही पल दूर हुआ। वे भिक्षापात्र लेकर राजमार्ग तक पहुंच गए। लोग भिक्षा देना भूल गए। वे तो 'महाराज भगीरथ की जय' बोलने लगे। भगीरथ ने कहा, 'मैं आपका राजा नहीं, सेवक हूं।'

लोग माने नहीं। तब महारानी श्रीदेवी छिपे वेश में आकर भिक्षा दे गई। राजा गुरुकुल की दिशा में चले। लोग पीछे-पीछे चल दिए। गुरुदेव सामने से आए। राजा के हाथ से भिक्षापात्र ले लिया। कहा, 'आज आपकी अपने-आप पर विजय हुई है। जाइए, प्रजाजनों के साथ लौट जाइए।'

राजा अभी यों ही खड़े थे। तभी मुख्यमंत्री और सेनापति आए। गुरुदेव ने कहा, 'सब-कुछ छोड़ देने के बाद उसे पाने का सुख होता है। अब आप अलग मनोदशा से शासन कर सकेंगे। आपको जो पाना बाकी था, आप पा चुके हैं।'

और तब महाराज भगीरथ को अपने सवाल का जवाब मिल गया। ❖

गलत होता पंचतंत्र पृष्ठ 41 का शेष

अब समय ही समय है, पर समय की कोई कीमत नहीं।

समय का न चुकने वाला थकाता हुआ विस्तार मेरे आगे-पीछे फैला पड़ा है। उसमें मेरी झुर्राती जाती श्लथ अंगुलियां उसी की तरह जीवन के अर्थ टटोल रही हैं।

वह चाहे कभी मेरी ओर नहीं देखता, मैं उसकी ओर एक क्षीण-सी प्रत्याशा से सदा देखती रहती हूं। शायद वह कुछ जानना चाहे—मेरे जीवन की इतनी बड़ी अनुभवराशि में से कोई ज्वलंत जीवित अंश, कोई निर्देश, कोई निजी रहस्य, अतीत के प्रांगण में स्मृति के महीन-से धागे से बंधा रह गया कोई क्षण।

पर नहीं। वह पूरी तरह आत्मनिर्भर है। संदर्भों का उसका संसार अपने अर्थों में पूर्ण है। उसमें मेरा कोई योगदान नहीं। वह जितना आगे जाता है, मैं उतनी अतीत होती जाती हूं।

मेरी करुण व्यथा उसे आशिषती है, भरपूर आशिषती है।

पर मात्र-आशिषती है, उसके जीवन के खाकों में रंग भरने का साहस नहीं कर पाती। ❖

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 • Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

Bearing is not our only business.

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926 / 0640, Fax - 22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।